दुरभिसन्धि

परम पूज्यनीया माताजी

के चरण-कमलों में सादर

समर्पित

जिनका स्नेह एवं शुभाशीर्वाद ही

'दुरभिसन्धि'

का रूप ले सका

—'विगत'

अध्याय : १ :

आज ओरछागढ़ बड़े मनोयोग से सुसज्जित किया गया था। स्थान-स्थान पर आम्र-मञ्जरियाँ, बन्दनवार, पीत-पताकाएँ फहराई गई थीं—गली-गली, बाजार-बाजार सजे हुए थे।

इस दिन गढ़ में वसन्तोत्सव का विशेष रूप से आयोजन रखा गया था। जन-जन के निमित्त गढ़ के द्वार मुक्त थे। कोई आता था तो कोई जाता। असीम उत्साह से आने-जानेवालों की रेल-पेल थी।

प्रहरीगण सजे-सजग, भाले सम्हाले, बरछी लिये इधर से उधर मुख्य-द्वार पर घूम रहे थे। नागरिकों, सेठजनों, नगर-सेठ, तरुण-तरुणियों, विमलांगियों का आना-जाना बन्द ही नहीं हो पा रहा था। महोत्सव के श्रीगणेश होने में कुछ ही विलम्ब रह गया था।

प्रत्येक व्यक्ति का मुख द्वार की ओर रह-रह कर उठ पड़ता था। गढ़ के मध्य एक विस्तृत प्राँगण में आयोजन था। नागरिकों और दर्शकों के बैठने के निमित्त दरियों, कालीनों एवं शुभ्र चाँदनी पर पृथक्-पृथक् प्रबंध था। किन्तु नरेश एवं अन्य सभासदों के लिए एक महान् रंगमंच निर्मित किया गया था। रंगमंच के सम्मुख एक विस्तृत प्रांगण था, जिस पर कलाकार, नृत्यकार और गायक अपने कला-प्रदर्शन के लिये स्वतंत्र थे। समीप ही एक दिव्य रत्न-जटित-सिंहासन सुशोभित था, जिसके आस-पास विभिन्न प्रकार के सहस्रों सुवासित पुष्पों के गुच्छे तथा गमले बड़े उचित ढंग से रखे गये थे। बेला के पौधों की बहुतायत थी, और सहस्रमुखी फव्वारे नन्हें-नन्हें पुष्पों को नहला रहे थे।

सहसा उपस्थित जन-समुदाय एक साथ उठ खड़ा हुआ। सबका ध्यान चकित-विस्मित मुख्यद्वार से आनेवालों की ओर लग गया—लोगों ने देखा कि श्रीमान् जुझारसिंह जी अपने अनुज श्री हरदौलसिंह एवं अंग-रक्षकों, अनेकों सेवक-सेविकाओं से घिरे नयनाभिराम रंगमंच पर आ

उपस्थित हुए। एक चकित दृष्टि इधर-उधर डालने के उपरान्त ओरछा-नरेश रत्नजटित सिंहासनासीन हुए। उनके भाल पर पीत तिलक उनकी धर्मप्रियता का आभास दे रहा था। अभिवादन हेतु खड़े हुए दर्शक तथा अतिथि सभी पूर्ववत् अपने-अपने स्थानों पर बैठ गये।

श्री जुझारसिंह ने आदेश दिया—"समारोह प्रारम्भ किया जाय!"

मन्त्रोच्चारण तथा प्रार्थनाएँ एक स्वर से सभा-मण्डप में गूँज उठीं।

तदनन्तर शीघ्र एक सुन्दर षोडशी बाला अपने चंचल नेत्रों में काजल बिखराये, स्वर्ण बाजूबन्द, करधनी एवं मकर-पुष्प धारण किये, हँसी-मुस्कान से लसित, नृत्य की उमंग से लहराती-झूमती, एक विलक्षण-विमोहक सौन्दर्य-आभा आलोकित करती रंगमंच पर आ खड़ी हुई।

नृत्य होने लगा। सम्पूर्ण वातावरण झूम उठा। उसकी सुडौल गोरी-गोरी बाँहें रह-रह कर नृत्य-मुद्रा दिखाने लगीं—मटकने लगीं। उसकी पतली कटि बल खाने लगी। उसकी नस-नस में अपूर्व गति आ निखरी—अपूर्व चंचलता आ चमकी। उसके नरम पाँवों की गति मणि-जटित वेणी से युक्त-मुक्त हो कर झंकारने लगी।

उसके वक्ष का सुनहरा-साधारण दुकूल खिसक गया। उसकी काली चोटी नागिन-सी लहराने लगी; और सींक-सुराही से पतले गले की एकसूत्र मौक्तिक मणिमाला वक्ष पर रह-रह कर उठने-गिरने लगी, जैसे अविरल जल-झरना बह रहा हो।

नृत्य की एक लम्बी भूमिका और झलक दिखलाने के उपरान्त उसने संगीत छेड़ा :—

"कजरारे बदरा अभी न बरसो,
पिया हैं मेरे दूर,
बदरा पिया हैं मेरे दूर!

मन्द समीरण, चंचल गर्जन,
शीतल सिहरन, मन उन्मादन।
मलयाचल के साथी बनकर।

यौवन से भरपूर !
वदरा, पिया हैं मेरे दूर !
पिया हैं मेरे.........!!"

और कुछ थक-सा जाने पर नृत्य सुन्दरी ने संगीत एवं नृत्य दोनों को विराम दिया।

फिर एक अजीब-सा सुस्मित-भाव बिखेरती हुई वह एक ओर को सिमटी-सी बैठ गई।

तदनन्तर राजा जुझारसिंह के सम्मुख नट-कला का प्रदर्शन हुआ। मोहक नट-कला का खेल देख कर ओरछा-नरेश सानुज मणियों के प्रकाश से जगमगाती सभा में आ बैठे। वे भाँति-भाँति के आभूषणों से सुसज्जित वस्त्र धारण किये हुए थे।

सहसा एक गुप्तचर ने आ कर जुझारसिंह से सादर निवेदन किया। "महाराज ! शाही सेना दुर्ग की ओर बढ़ी आ रही है !" उस का स्वर क्षीण था, कंठ शुष्क !

आश्चर्यचकित हो कर जुझारसिंह के मुख से निकला—"गढ़ की ओर शाही सेना !...अकारण !!...क्यों ?"

और शीघ्र ही उन्होंने आदेश दिया—"विराम मिले इस राग-रंग को, नट-कला को !"

दर्शक विस्मित-विस्फारित नेत्रों से, चौकन्ने-भयभीत-से रंगमंच की ओर बढ़े।

हरदौलसिंह ने उठ कर निवेदन किया—"उपस्थित प्रजाजनो ! चिन्ता का नहीं रक्षा का विषय है, प्रदेश-रक्षा का। सुना है, मुगल सेना आक्रमण करने के लिए गढ़ की ओर आ रही है। राज्य के सभी सैनिक जन गढ़ के पार्श्व ओर एक विशाल प्रासाद-कक्ष में एकत्रित हो जायें !" सभी एक-दूसरे का मुँह निहारते, कुछ कहते-सुनते उठ-उठ कर चलने लगे।

:o: :o: :o:

गढ़ के समीप एक भीषण उद्घोष गूँजने लगा। "अल्ला हो अकबर !" का नाद अन्तरिक्ष की तरंगों में बढ़ने-बुझने लगा।

जुझारसिंह अनुज से बोले—"हरदौल, शीघ्रता करो ! समस्त सेना को एक साथ सजने के लिए आदेश दो ! कहो, तूर्यधारी तूर्य बजायें, सेनानायक मन्याधिकारी ससैन्य फैल कर गढ़ के चतुर्दिक चुने हुए तरुण सैनिकों का व्यूह बना लें और... !"

राजा उन्मत्त जैसे कभी इधर कभी उधर घबराये-से जाने लगे।

"चिन्ता न करें भाई साहब !" हरदौल बोले—"रण का समस्त भार मुझ पर रहा ! विजयश्री अवश्य हाथ लगेगी।"

तदनन्तर गढ़ के बाहर जुझारसिंह की सेना हरदौल के नायकत्व में आ डटी। शाही सेना को विश्वास भी न था, आशा तक न थी कि बुन्देले सैनिक इतनी जल्दी सजग हो उठेंगे।

देखते निहारते समय न लगा। दोनों दल गढ़ से कु दूर परस्पर भिड़ गये। खड्ग बज उठे, ढाल त नि-टन्नाने लगे। चीत्कार-फूत्कार, सिंहनाद का वातावरण बिखर गया। राजपूत अपनी-अपनी रण कुशलता दिखाने लगे। दोनों दलों की पाशविक शक्तियाँ कृतकार्य हो उठीं।

सहसा शाही सेना बरछी-भाले छोड़ कर रण-प्रांगण से इधर-उधर भागने लगी। हरदौलसिंह ने युद्ध-विराम का आदेश दिया।

एक विस्मयकारी आपत्ति आई और टल गई। राजपूत विजय से झूम उठे। किन्तु यह किसी से छिपा न रह सका कि, आज की रण-कुशलता के परिचायक, विजयश्री के मोरमुकुट श्री हरदौलसिंह ही थे।

०

अध्याय : २ :

उन दिनों ओरछा राज्य प्रचुर रूप से सम्पन्न एवं वैभवशाली था। अपनी न्यायप्रियता और वीर्योचित कथा-कहानियों के कारण वह दूर-दूर तक सुविख्यात था। यहाँ तक कि शाही दरबार में भी ओरछा राज्य का सम्मान था। राजनगरी के उन्नत गगनचुम्बी भवन, स्थान-स्थान पर मठ-मन्दिरों के स्वर्ण निर्मित दिगंत से बातें करते कलश, प्रातः-संध्या के मिलन पर घंटे-घड़ियालों और महावाद्यों के जय-जयकार, अपनी धर्म-प्रियता एवं उदारता के जीवित प्रमाण थे। नगरी पुष्प-फलोद्यानों, तथा सुरम्य बगीचों से भरी पड़ी थी।

सायंकाल को राजनगरी के सजे बाजारों में नर-नारियों की अपार भीड़-भाड़ हो जाती थी। हँसी-मुस्कान से भरे बाजार झंकृत हो उठते थे। तरुण-तरुणियों, कोमलांगियों की सहज-दृढ़ मुस्कान बिखर-बरस उठती थी। इसी अवसर पर यदि वहाँ आस-पास से आये तरुण कभी पस्थित होते, तो वे इन नवयुवतियों की कोमल मद-मस्त चाल, उनके हाव-भाव, रूप-रंग सौन्दर्य को निहार कर दूनी उमंग में अपने को खो-सा देते थे। बाजारों-मंडियों में माल, अन्य प्रान्तों से भी बिकने आता था। वाणिज्य-व्यापार का सुदूर प्रदेशों तक प्रसार था। प्रजा धन-धान्य से परिपूर्ण थी। और राजा हरदौल से प्रजा का सहज सम्पर्क था। उनके अमिट स्वाभाविक गुण एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व की प्रजा पर छाप थी। राजा-प्रजा के मध्य जब कभी मतभेद उत्पन्न होता, कोई जुल्म होता, तो नागरिक अपनी पुकार हरदौल तक पहुँचाने आते; और वे तुरन्त उनकी असुविधा का निवारण करते। जनता की हरदौल पर अटूट श्रद्धा थी, उनके वचन पर अप्रतिम विश्वास, था। प्रायः नित्य ही सन्ध्या के समय हरदौल का कक्ष सभ्य नागरिकों से खचा-खच भरा दीखता। ओरछागढ़ का फूलबाग में जिसके विस्तृत हरे-भरे प्रांगण सुन्दर बेल-बूटों से खचित थे, शुभ्र प्रस्तर से निर्मित हरदौल का महल

जुझारसिंह अनुज से बोले—"हरदौल, शीघ्रता करो ! समस्त सेना को एक साथ सजने के लिए आदेश दो ! कहो, तूर्यधारी तूर्य बजायें, सेना-नायक सैन्याधिकारी ससैन्य फैल कर गढ़ के चतुर्दिक चुने हुए तरुण सैनिकों का व्यूह बना लें और. . . !"

राजा उन्मत्त जैसे कभी इधर कभी उधर घबराये-से जाने लगे।

"चिन्ता न करें भाई साहब !" हरदौल बोले—"रण का समस्त भार मुझ पर रहा ! विजयश्री अवश्य हाथ लगेगी।"

तदनन्तर गढ़ के बाहर जुझारसिंह की सेना हरदौल के नायकत्व में आ डटी। शाही सेना को विश्वास भी न था, आशा तक न थी कि बुन्देले सैनिक इतनी जल्दी सजग हो उठेंगे ।

देखते निहारते समय न लगा। दोनों दल गढ़ से कु दूर परस्पर भिड़ गये। खड्ग बज उठे, ढाल त नि-टन्नाने लगे। चीत्कार-फूत्कार, सिंहनाद का वातावरण बिखर गया। राजपूत अपनी-अपनी रण कुशलता दिखाने लगे। दोनों दलों की पाशविक शक्तियाँ कृतकार्य हो उठीं ।

सहसा शाही सेना बरछी-भाले छोड़ कर रण-प्रांगण से इधर-उधर भागने लगी। हरदौलसिंह ने युद्ध-विराम का आदेश दिया।

एक विस्मयकारी आपत्ति आई और टल गई । राजपूत विजय से झूम उठे। किन्तु यह किसी से छिपा न रह सका कि, आज की रण-कुशलता के परिचायक, विजयश्री के मोरमुकुट श्री हरदौलसिंह ही थे ।

अध्याय : २ :

उन दिनों ओरछा राज्य प्रचुर रूप से सम्पन्न एवं वैभवशाली था। अपनी न्यायप्रियता और वीर्योचित कथा-कहानियों के कारण वह दूर-दूर तक सुविख्यात था। यहाँ तक कि शाही दरबार में भी ओरछा राज्य का सम्मान था। राजनगरी के उन्नत गगनचुम्बी भवन, स्थान-स्थान पर मठ-मन्दिरों के स्वर्ण निर्मित दिगंत से बातें करते कलश, प्रातः-संध्या के मिलन पर घंटे-घड़ियालों और महावाद्यों के जय-जयकार, अपनी धर्म-प्रियता एवं उदारता के जीवित प्रमाण थे। नगरी पुष्प-फलोद्यानों, तथा सुरम्य बगीचों से भ ी पड़ी थी।

सायंकाल को राजनगरी के सजे बाजारों में नर-नारियों की अपार भीड़-भाड़ हो जाती थी। हँसी-मुस्कान से भरे बाजार झंकृत हो उठते थे। तरुण-तरुणियों, कोमलांगियों की सहज-दृढ़ मुस्कान बिखर-बरस उठती थी। इसी अवसर पर यदि वहाँ आस-पास से आये तरुण कभी पस्थित होते, तो वे इन नवयुवतियों की कोमल मद-मस्त चाल, उनके हाव-भाव, रूप-रंग सौन्दर्य को निहार कर दूनी उमंग में अपने को खो-सा देते थे। बाजारों-मंडियों में माल, अन्य प्रान्तों से भी बिकने आता था। वाणिज्य-व्यापार का सुदूर प्रदेशों तक प्रसार था। प्रजा धन-धान्य से परिपूर्ण थी। और राजा हरदौल से प्रजा का सहज सम्पर्क था। उनके अमिट स्वाभाविक गुण एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व की प्रजा पर छाप थी। राजा-प्रजा के मध्य जब कभी मतभेद उत्पन्न होता, कोई जुल्म होता, तो नागरिक अपनी पुकार हरदौल तक पहुँचाने आते; और वे तुरन्त उनकी असुविधा का निवारण करते। जनता की हरदौल पर अटूट श्रद्धा थी, उनके वचन पर अप्रतिम विश्वास, था। प्रायः नित्य ही सन्ध्या के समय हरदौल का कक्ष सभ्य नागरिकों से खचा-खच भरा दीखता। ओरछागढ़ का फूलबाग में जिसके विस्तृत हरे-भरे प्रांगण सुन्दर बेल-बूटों से खचित थे, शुभ्र प्रस्तर से निर्मित हरदौल का महल

था । असंख्य-अखंड फव्वारों और विभिन्न प्रकार के सुन्दर सुगन्धित पुष्पों के सुवास से फूलबाग हमेशा भरा रहता । उस पर यदि कभी-कभी मलय-पवन के मन्द झोंके आ पड़ते तो दूनी उमंग से हृदय प्रफुल्लित हुए बिना न रहता । मन के तार बज-से उठते थे । हरदौल को अपने पिता के राज्यकाल में ही एरिच और वड़गाँव की जागीर मिल गई थी । उन्तीस वर्ष की वय में ही हरदौल के रण-कौशल पर बड़े-बड़े सरदारों को आश्चर्य होता था । सैनिकों को हरदौल का संकेत मात्र ही पर्याप्त था ।

हरदौल की इस लोकप्रियता, ख्याति एवं ीरता की धाक पास-पड़ोस से दूर दूर तक फैल चुकी थी ।

जुझारसिंह भी अपने अनुज पर स्नेह रखते थे । किन्तु हरदौल की बढ़ती हुई जन-प्रियता कभी-कभी उनके हृदय में भी किंचित भय-सा उत्पन्न कर देती थी । परन्तु फिर भी हरदौल का सरल और विनोदप्रिय स्वभाव अपने अग्रज के सन्देह का भाजन नहीं होता था । और फिर जुझारसिंह की बड़ी रानी कुँवरबाला भी हरदौल से पुत्रवत् स्नेह करती थीं ।

:o: :o: :o:

"छोड़ दो पापियो, मुझे छोड़ दो !"

"अहा...ह...ह...तू छूटेगी ! सरदारो, और कस लो इसे ! कहीं निकल न भागे ?"

हरदौल को पूजा करते समय, मन्दिर की पूर्व दिशा से अचानक यह चीत्कार सुनाई पड़ा । उनका ध्यान भंग हो गया । उन्होंने आँखें खोल, इधर-उधर देखा; किन्तु वहाँ उनके इष्टदेव रघुनाथजी की भव्य-मूर्ति के अतिरिक्त कुछ न था । उन्होंने अपनी आँखें पुनः मूँद लीं और ध्यान मग्न हुए ही थे कि करुण पुकार फिर सुनाई पड़ी—"राक्षसो, मुझे छोड़ दो ! वरना इसका प्रतिकार ईश्वर तुम्हें अभी... !"

"यह तो किसी अबला की आवाज है !" हरदौल ने सोचा—"क्या आज रघुनाथजी उन की परीक्षा लेंगे ?"

अब उनसे नहीं रहा गया। पूजा-अर्चना अधूरी छोड़ कर वह उठ खड़े हुए।

रात्रि का अन्तिम प्रहर था। तारावलि आकाश गंगा में डूबने-खोने के लिए मलिन हो रही थी और अंधकार कुछ-कुछ हट चला था। वह महाप्रभु की शक्ति पर मनन करते हुए रघुनाथजी के मन्दिर से बाहर आये।

वहाँ एक अबला नारी को कुछ सैनिक वेशधारी डाकुओं के पंजे में देख कर वह कड़क कर बोले—"कौन हो तुम लोग ?"

"पूछने का क्या कारण ?" उन में से एक व्यक्ति अकड़ से बोला—

"शायद तुम्हें मेरी तलवार से अभी पाला नहीं पड़ा है। सीधे बताओ तुम कौन हो और यह अबला क्यों रो रही है ?"

उत्तर में एक व्यक्ति जो देखने में दस्युदल का सरदार प्रतीत होता था अट्टहास कर उठा। बोला—"अरे पाला पड़ेगा तब देख लेंगे...! चलो जी, ले चलो इसे !"

तुरन्त ही तरुणी बोली—"यह लोग मुझे...!"

उसने साहस कर कहना चाहा, किन्तु उस का मुँह बन्द कर दिया गया। बेचारी की आवाज वहीं की वहीं दबी रह गयी।

हरदौल के हाथ में गंगाजल का पात्र था। आवेश में आ कर उन्होंने उस युवती को पकड़े हुए व्यक्ति के सिर पर दे मारा। वह व्यक्ति तिलमिला उठा और सिर पकड़ कर वहीं बैठ गया। युवती उसके हाथ से छूट गई। अपनी रक्षा के विचार से बेचारी सहमी हुई-सी एक ओर खिसक गई।

देखते ही देखते सभी यवन-दस्यु हरदौल से भिड़ गये। युवती के मुख से एक अस्फुट चीख निकली—"हे ईश्वर...!"

उनमें से कुछ ने अपने-अपने खड्ग खींचे। कुछ खाली हाथ ही हरदौल से उलझ गये। हरदौल ने अवसर पा कर अपने बलिष्ठ मुक्के का प्रहार एक दस्यु के मुँह पर किया। वह लड़खड़ा गया। मूर्च्छा आते न आते उन्होंने उस का खड्ग म्यान से बाहर खींच लिया।

यह सब पलक झपकते हो गया। उनके कुछ हल्की चोट भी आई; पर परवाह न कर वह उनसे भिड़ गये।

अन्तिम प्रहर का अन्धकार मिट चला था । साथ ही साथ हरदौल की पूजा रणचण्डी के रूप में परिणत हो कर अपना ताण्डव-नृत्य दिखाने लगी थी ।

सभी दस्यु हरदौल पर जी-जान से प्रहार कर रहे थे; किन्तु उनके आगे किसी की भी दाल न गल पा रही थी । हरदौल के खड्ग के एक ही वार से अथवा जोर के पदाघात से बारी-बारी से सब का वारा-न्यारा होता जा रहा था ।

जिस समय हरदौल दस्युओं से संघर्ष में रत थे, उसी समय दस्यु-सरदार ने युवती को अपने अधिकार में कर लिया और उसे घोड़े पर बैठा कर भागने की चेष्टा करने लगा, वह बेचारी क्रन्दन कर 'बचाओ-बचाओ' पुकारने लगी ।

शेष दस्यु भी तरुणी को अपने सरदार के अधिकार में देख भाग निकले ।

हरदौल यह सब देखते ही अपना नग्न खड्ग लिए, एक ही छलाँग में दस्यु-दल के एक अश्व पर जा सवार हुए और दस्युदल का पीछा कर खड्ग के एक ही वार से जो अश्वारोही दस्यु आगे पड़ा, उस का सिर उड़ा दिया ।

काफी रास्ता तै करने के बाद उन्होंने सरदार के अश्व को जा पकड़ा । दस्यु ने जब अपना जीवन संकट में देखा, तो वह भी रुक गया और उसने एक भीषण वार हरदौल पर किया । हरदौल ने भी पैंतरा बदल कर खड्ग का भरपूर हाथ चलाया । पलक झपकते ही दस्यु का सिर नीचे जा पड़ा ।

हरदौल ने शीघ्र ही समीप जा कर सहमी तरुणी बाला को अपने अश्व पर ले लिया । बचे-खुचे दो-चार दस्यु यह दशा देख कर भाग निकले !

उनकी देह स्वेद-कणों से भीग उठी थी । बोले—"देवी ! चलो, राजमन्दिर की ओर चलें ।" और अश्व को पीछे मोड़ वह वापस हो चले । विस्तृत वन्य प्रदेश में केवल अश्व के टापों की आवाज़ ही सुनाई दे रही थी ।

राजमन्दिर के समीप आ कर उन्होंने अश्व को रोका; और वाला को सहारा दे उतारा। वह कुछ सहमी-सकुची सी उतर पड़ी।

महल में प्रवेश करते समय वह बोले–"बहन! आज की पूजा तो बड़ी मँहगी पड़ी।!"

वह कुछ न बोली। चुपचाप चल रही थी पीछे-पीछे।

अध्याय : ३ :

"भौजी-माँ ! आज मैं श्री रघुनाथजी का प्रसाद लाया हूँ ।"—हरदौल अपनी भाभी के कक्ष में प्रवेश करते हुये बोले ।

"रघुनाथ जी का प्रसाद !" भौजी के नेत्र चमक उठे—"लाओ, कहाँ है वह महाप्रसाद ?"

"यह क्या रहा, देखो तो ?" और उन्होंने तरुणी बाला को अपनी भौजी के सम्मुख ला कर खड़ा कर दिया ।

"यह कैसा प्रसाद है लालाजी ?" रानी कुँवरबाला आश्चर्य से देखती रह गयीं ।

उन्होंने अपने सामने एक युवती को खड़ी पाया । कंठ से लिपटा एक महीन मैला दुपट्टा वक्ष-स्थल को जैसे-तैसे ढँके था । जगह-जगह ल`पैबंद का रंग-बिरंगा लहँगा पहने थी वह । रानी नहीं समझ पाईं कि चीथड़ों में लिपटी यह अनिन्द्य रूप-सुन्दरी कौन है—यह कैसा प्रसाद ?

उन्हों ने समझने का प्रयत्न किया—"साफ़-साफ़ समझाइये लालाजी. . .ऐसे मैं क्या समझूँ ?"

श्री रघुनाथजी के मन्दिर से आने के पश्चात् हरदौलसिंह का काफी समय बीत चुका था । रविदेव ने अपनी रश्मि-माया प्रसारित कर दी थी । धूप महल, बाड़ी, कूल-कगारों पर बिखरने लगी थी । वह पूजा-उपासनोपरान्त नित्य श्रीगीताजी का पाठ किया करते थे । किन्तु आज इस व्यर्थ के झंझट में ही उनका सारा समय बीत गया था । अब उन को श्री गीताजी का पाठ करने की व्यग्रता थी । अतः उन्हें अवकाश ही कहाँ था, विस्तारपूर्वक कहने का ! उन्होंने संक्षेप में कहा—"भौजी-माँ, नित्य की भाँति मैं श्री रघुनाथजी के मन्दिर में पूजा हेतु आज भी गया । पूजा के मध्य में ही मैंने इस देवी का करुण क्रन्दन सुना । तुरन्त आराधना छोड़ कर, बाहर आया और श्री रघुनाथजी का महाप्रसाद

प्राप्त कर लिया।" फिर वह तरुणी बाला की ओर घूम कर बोले—"बहन! जाओ भौजी-माँ के साथ बातें करो। मैं अभी ही आता हूँ।"

रानी कुँवरबाला के नेत्र एक अज्ञात प्रसन्नता से खिल उठे। वह अचल दृष्टि से चुपचाप सब देख रही थीं। उत्तर में तरुणी से बोलीं—"बैठो, बेटी!"

तरुणी एक झोपड़ी से निकल कर महलों में आयी थी। उसे अपनी आँखों पर विश्वास ही नहीं हो रहा था कि वस्तुतः चारों ओर क्या देख रही है? वह क्या इन्द्रलोक में तो नहीं आ गई है? ये रेशमी पर्दे, गालीचे, झाड़-फानूस सब क्या हैं? एक अपूर्व-सी जगमगाहट को देख कर, वह घबड़ा गयी। किसी प्रकार उसने साहस कर आसन पर बैठने का प्रयत्न किया।

हरदौल ने पुनः कहा—"अच्छा भौजी-माँ! मुझे आज्ञा दीजिये। श्री गीताजी का पाठ आज नहीं कर पाया।"

रानी कुछ न बोलीं। केवल एक मधुर सरल मुस्कान उनके अधरों पर बिखर गई। हरदौल मन्द गति से कक्ष से बाहर चले गये। रानी अपलक अपने देवर को निहारती रहीं। देवर के पवित्र व्यवहार से वह मन ही मन गौरव का अनुभव करने लगीं। उनके नेत्र भर आये।

हरदौल सिंह अपनी भाभी रानी कुँवरबाला को अपनी माता सदृश मानते थे। वे अपनी जननी से भी कहीं अधिक उनका आदर करते थे। अभी तक वह अविवाहित ही थे।

रानी का व्यवहार भी हरदौलसिंह के प्रति पुत्र-सा ही था। यही कारण था कि वह रानी कुँवरबाला को सदा 'भौजी-माँ' कह कर पुकारते थे।

प्रथम तो कुँवरबाला ने तरुणी को देख कर यही समझा कि हरदौल इस को अपनी जीवन-संगिनी बनाने के लिए यहाँ लाये हैं। बहुधा वह प्रत्येक अच्छे-बुरे कार्य में भौजी से सलाह ले लिया करते थे। कदाचित् इस बारे में भी उसी की राय जानने के लिये आये हों। किन्तु उसी देवर के मुँह से 'बहन' का सम्बोधन सुन कर उसके नेत्र डबडबा आये।

मुखमंडल दीप्तिमान हो गया। साथ ही वह तरुण-बाला के सौन्दर्य को देख कर मुग्ध-सी हो गईं।

उस की ओर देख कर उन्होंने कहा—"बेटी! तुम्हारा नाम तो सुन पाऊँ?"

"शशिबाला!"

"शशिबाला!" रानी जैसे कुन्द-कली की भाँति खिल उठीं—"वस्तुतः तुम शशिबाला ही हो। अच्छा, इस समय तो मुझे भी पूजा-पाठ से निवृत्त होना है, अब अधिक न पूछूँगी। फिर अवकाश में सारी कथा-सुनाना। अब आराम करो।" और रानी ने धीरे से ताली बजायी।

शीघ्र ही, दो परिचारिकायें हाथ जोड़े आ उपस्थित हुईं।

रानी ने आदेश दिया—"बेटी शशि को ले जाओ और इसे नहला-धुला कर भोजन की व्यवस्था करो। देखो! सुन्दर कपड़े पहनाना न भूलना।"

"जो आज्ञा!" और वे शशिबाला को साथ ले कमरे के बाहर चली गईं।

रानी ने फिर कहा—"और सुनो?"

एक परिचारिका रानी के आदेश पर पुनः लौटी। उन्होंने उसके कान में कुछ फुसफुसाया शायद कड़े नियंत्रण का आदेश भी था।

:o: :o: :o:

गढ़ से सट कर बहती हुई बेतवा कल-कल स्वर कर, मदमाती चाल से बह रही थी। भीनी हवा के झोंके पानी-तल पर लहर डाल कर भाग निकलते थे। लहरें बनतीं और फिर बिखर जाती थीं। रवि-रश्मियाँ छल-छला कर अपनी चमक-दमक से लहरों के साथ क्रीड़ा कर रही थीं और कोयल का स्वर, कल-कल संगीत का स्वागत करता था। एक विलक्षण नयनाभिराम दृश्य चारों ओर छिटका हुआ था।

रानी कुँवरबाला शशि सहित स्वर्णपीठिकाओं, पर बैठीं इसी का आनन्द ले रही थीं। दोनों के मुख पर आश्चर्य था, कुतूहल था और थी एक गहन निमग्नता। समीप ही ओरछा नरेश श्री जुझारसिंह विराजमान थे। ऐसा लगता था, मानों कुछ घड़ी पूर्व कोई प्रसंग छिड़ा होगा और उसी के सोच-विचार में सभी चुप थे।

"जिस समय तुम्हारी झोपड़ी पर डाकुओं ने आक्रमण किया, कोई था वहाँ ?" जुझारसिंह ने शान्ति भंग की।

"सब थे।" तरुण कन्या ने उत्तर दिया—"बप्पा, अम्मा और भैया सभी तो थे। किन्तु टिड्डी-दल की तरह उनका आक्रमण हुआ। नट-बंजर बस्ती के सभी नर-नारी जाग उठे। परन्तु उस दल के एक व्यक्ति ने मेरे मुख को अपने कठोर हाथों से बन्द कर दिया; और मुझे झोपड़ी से बाहर ले चले। सबने एक साथ हल्ला-गुल्ला मचाया। अपने-अपने बरछी-भाले लेकर दौड़े; किन्तु मुझे न बचा सके। इसके बाद मैं नहीं कह सकती कि किस प्रकार मुझे रघुनाथजी के मन्दिर के पास लाया गया और क्यों ?"

"अच्छा! यहाँ तक अत्याचार करने पर तुल गये हैं...!" जुझारसिंह बात काट कर स्वयं ही अपने-आप कहने लगे—"नित्य प्रति इनके कुकृत्यों से प्रजा का पीड़न होता है। अब शाही-दरबार तक इस विषय को पहुँचाने के अलावा और कोई रास्ता नहीं। मुझे चाहे शाही सेना का कोप ही क्यों न झेलना पड़े!"

और वह उठ खड़े हुए।

रानी और शशि भी चलने को उद्यत हुईं। किन्तु उनके मुख पर आश्चर्य स्पष्ट झलक रहा था।

●

अध्याय : ४ :

आज नट-बंजरों की बस्ती में एक विलक्षण रहस्यपूर्ण वातावरण छाया था। यत्र-तत्र नर-नारियों की गोष्ठियाँ जुटी पड़ी थीं। किसी को अपने गोपुरों, ढोरों की चिन्ता न थी। सभी अपनी-अपनी झोपड़ियों से निकल कर इधर-उधर सलाह-मशविरा करते नज़र आ रहे थे।

सबके जिह्वा पर शशिबाला के उठा ले जाने की ही चर्चा थी। भाँति-भाँति की शंकाएँ उठतीं; योजनाएँ, कार्यक्रम बनते और बिगड़ते। किसी की समझ में कुछ न आ रहा था कि क्या किया जाय ?

किन्तु इन सब से दूर, एक वृद्धा—'भुलिया'—मौन, अचल, एक झोपड़ी में टूटी खाट पर खामोश बैठी, अपनी बच्ची की याद में आँसू बहा रही थी। उस की निरीह दशा को देख कर किसी को भी दया आये बिना नहीं रहती। वह टूटी खाट पर सम्हल कर बैठने को खिसकी ही थी कि इतने में उसकी नजर परछाई पर पड़ी, जो झोपड़ी की ओर बढ़ रही थी। वह कोई और न हो कर उसका पुत्र अँगनू ही था। उस को भी चिन्तित देख वह बेचारी घबड़ाये स्वर में कह उठी—"आ गये बेटा तुम ! क्या तय किया पंच-प्रधानों ने ?"

"अभी तो कुछ नहीं, अम्मा !" अँगनू खाट के एक ओर बैठता हुआ बोला—"वे लोग कोई फैसला ही नहीं कर पाते, पता कौन लगाये ?"

"खोई हुई वस्तु का बार-बार पछतावा ही होता है,"—वृद्धा मैली ओढ़नी से नेत्र पोंछती हुई बोली—"और फिर जिस का कुछ निशान-पता ही नहीं, उसे ढूँढ़ा कैसे जाय ? किसे जरूरत पड़ी है, भाग-दौड़ करने की ? गरीब जो हैं हम !"

"न सही, मैं ही कमर कसूँगा अम्मा ! घबड़ाओ मत। शशिबाला को खोज ही निकालूँगा, चाहे कुछ भी हो।"

"न बेटा ! यह तेरे बस का काम नहीं है ! कहाँ मारा-मारा भटकता फिरेगा ? तकदीर में होगा तो आप ही आ मिलेगी शशि ।" बुढ़िया की वाणी में धैर्य और विवशता की स्पष्ट झलक थी । उस का विवेक शून्य हो चला था । शशि नहीं, वह स्वयं ही अपने को खोई-खोई-सी समझने लगी थी ।

अँगनू का मन बहन की खोज करने के लिये व्यग्र हो उठा । वह मन ही मन छटपटाने लगा—"किस बात में कम हूँ ?...स्वस्थ हूँ । बंजर-बस्ती के किस युवक को—क्या चपलू, बदलू, रमनू और छंटू—मैंने नहीं हराया है । सभी मेरा रोब-दाब मानते हैं । झगड़े-फिसाद के अवसर पर बंजरों को मुझ पर विश्वास है । कई एक बिगड़े कार्य मैंने खुद सुलझाये हैं । और अभी कुछ दिन पहले, जब एक अन्य बंजर-दल ने हमारी बस्ती पर आक्रमण किया था, तब मेरे नेतृत्व में ही तो उन पर विजय पाई थी गाँववालों ने ! क्या मुझमें शौर्य की कमी है ?"

वह सोच रहा था—"यह सुडौल देह फिर किस दिन के लिये है ? क्या मैं इतना भी नहीं कर सकता ! कुछ भी हो, मैं बहिन की खोज के निमित्त स्वयं प्रयत्न करूँगा ।" कुछ देर शान्त रहने के उपरान्त वह बोला—"अम्मा मुझे तो भूख सता रही है, तूने कुछ रोटी-ओटी बनाई है ?"

"मेरा तो कुछ करने को जी ही नहीं होता, रोटी कौन बनाये ! हाँ, तेरे बप्पा जी ने आज कुछ बनाया था । देख ले, कुछ रखा हो, तो खा ले ।"

"तू नहीं खायेगी क्या ?"

"मुझे भूख नहीं है, तू ही खा ले !"

"तब जाने दे, मैं भी नहीं खाऊँगा ।" और वह झोपड़ी के बाहर निकलने को उद्यत हुआ ।

"तू खा ले बेटा ! मैं सच कहती हूँ, मुझे बिल्कुल भूख नहीं है ।"

"तो फिर समझ ले !"—उसने बैठते हुए उत्तर दिया—"मुझे भी इच्छा नहीं है ।"

"बड़ा जिद्दी   लया के पिचके चिबुक, धँसे ओंठ ममता के सरल-हास्य से खिल उठे। बोली—"अच्छा, ला कुछ मैं भी पानी पी लूँ।"

अँगनू उठा और तवे पर रखी दो मोटी-मोटी चपातियाँ ला कर माँ हाथ में थमा दीं। रोटियों पर आम का अचार था।

भुलिया ने कौर मुँह में देते हुए कहा—"अब तू भी तो खा ?"

अँगनू चूल्हे के पास जा बैठा, और भोजन करने लगा।

पेट-पूजा से निवृत्त हो उसने घड़े के जल से हाथ-मुँह धोया और कंधे पर लाठी रख, धीरे-धीरे बंजरों की बस्ती की ओर चल दिया।

भुलिया मुख चलाती रही। वह कुछ न बोली।

:o: :o: :o:

"आओ बेटा अँगनू, बैठो !" एक अधेड़ औरत ने कहा—"कहो, कुछ पता लगा शशि का ?"

"कुछ भी तो नहीं चाची ! रात-दिन मैं इसी चिन्ता में डूबा रहता हूँ।" वह भूमि पर बिछे टाट पर बैठ गया।

उसकी निगाहें झोपड़ी में इधर-उधर किसी को खोजने लगीं। जिस देवी के दर्शन मात्र से उसके मन-वीणा के तार प्रेम-संगीत से झंकृत हो उठते थे, उसको न देख, उसका हृदय चाची के घर लग नहीं रहा था।

एक विलक्षण-सी छटपटाहट अनुभव कर उसके मुख से निकल ही पड़ा—"सुरजो कहाँ गई आज चाची ?"

"अभी तो थी यहाँ ! पार की बस्ती में सहेलियों के साथ निकल गई होगी !"

वह चुप ही रहा। सिर झुकाये बैठा रहा। किन्तु यहाँ से चल देने को उस का मन चंचल हो उठा। चाची आटा गूँथते हुए पुनः बोली—"बेटा, मैंने एक बात सुनी है, कह दूँ बुरा तो नहीं मानोगे।"

"चाची, भला तुम्हारी बात का बुरा मैं क्यों मानने लगा !" अँगनू ने लाठी पर हाथ फेरते हुए कहा––"कभी क्या ऐसा हुआ भी है, बता तो ?

"सो तो नहीं, किन्तु बुरे समय में सच्ची और प्रिय बातें भी खोटी प्रतीत होने लगती है। घरवाले ही शत्रु बन जाते हैं।"

"मेरी ऐसी आदत ही नहीं है चाची ! तू तो जानती ही है मेरा स्वभाव।"

"हाँ, इसी से तो कहा मैंने !" चाची ने कुछ सशंकित दृष्टि से इधर-उधर देखते हुए धीरे-से कहा––"मैंने ऐसा सुना है, शशि को भगा ले जाने में रमनू का हाथ है।"

"रमनू का ?" अँगनू आश्चर्यचकित-सा बस इतना ही कह सका। उसे लगा––जैसे किसी ने मुक्के का गहरा प्रहार उसकी छाती पर किया हो ! उसका अभिन्न मित्र, और ऐसा कुकृत्य करे ? नहीं...यह कैसे सम्भव...!

फिर भी उसने सम्हलने की चेष्टा करते हुए कहा––"किन्तु मुझे आशा नहीं...!"

"यही तो मैं भी सोचती थी कि तुझे विश्वास ही न होगा।"

"यह बात नहीं चाची ! मैं इस बात पर विचार कर रहा था कि यह कहाँ तक सम्भव है ?"

"सम्भव !" चाची के शब्दों में व्यंग और स्वार्थ की झलक थी। बोली––"क्या तुझे नहीं मालूम कि शशिया रमनू के घर अधिक जाया करती थी ? उन दोनों का मन एक था। इस को तूने भुला दिया क्या ? शशिया और रमनू की चर्चा तो बस्ती के सभी बच्चे-बूढ़े की जबान पर थी ? 'छूटा बैल भुसौरी में' तुझे क्या समझ इन बातों की ? थोड़े दिनों बाद सब कुछ देख लेगा तू––अपनी आँखों से।"

स्वार्थ में अन्धा व्यक्ति, किसी के अहित में ही अपना हित देखता है। भला इससे अच्छा और अवसर ही कौन-सा मिलेगा ? रमनू और शशि-बाला के परस्पर आकर्षण का कुछ-कुछ ज्ञान अँगनू को पहले ही था और इस बात को उसने भुलिया से भी कई बार कहा था। किन्तु माँ ने इस

सम्बन्ध को अनुचित नहीं माना। वह सोचती, दोनों जवान हैं, समवयस्क हैं, एक-दूसरे को अत्यधिक चाहते हैं, प्रेम करते हैं; और फिर एक न एक दिन शशि का व्याह तो करना ही है। फिर रमनू में क्या बुराई है ?

और वह भी व्यर्थ में माँ से उलझने का प्रयत्न नहीं करता था। किन्तु उसे इसका स्वप्न में भी ध्यान न था कि यह बात बस्ती के लोगों, पंच-प्रधानों के कान तक पहुँच जायेगी।

आज चाची के शब्दों में उसे अपना हित ही दिखाई दिया। प्राय: लाचार और असमर्थ व्यक्ति कुविचारों एवं प्रतिहिंसा की ओर भटक जाते हैं—अँगनू ने पूर्णत: विश्वास कर लिया कि चाची उसके भले के ही लिये कह रही है। नट-बंजर बस्ती की यह चाची अपनी वाक्पटुता के लिये बस्ती के घर-घर में विख्यात थी। प्राय: सभी उसे 'चाची' ही कह कर सम्बोधित करते थे। एक की नहीं, वह सभी की चाची थी। बालक, वृद्ध सभी की चतुर चाची—अँगनू के कान भर, चिकनी-चुपड़ी बातें कर, उसे पट्टी पढ़ा अपना स्वार्थ सिद्ध करने पर ही नहीं तुली थी, प्रत्युत उसने हर प्रकार से अँगनू का अहित करना सोच लिया था। क्योंकि इन दिनों वह रमनू को अधिक स्नेह की दृष्टि से देखने लगी थी। उसकी हार्दिक इच्छा थी कि उसकी सुरजो रमनू की बहू बने।

चाची को अँगनू से सुरजो के साथ कुछ-कुछ लगाव का ज्ञान अवश्य था। किन्तु वह इस ओर निश्चिन्त थी। प्रकट रूप में वह अँगनू से प्रेम-व्यवहार रखती, परन्तु भीतर ही भीतर कुछ और ही योजना बनाती।

उसने रमनू और अँगनू की मित्रता तोड़ने और उनमें पारस्परिक वैमनस्य पैदा करने के सभी साधन जुटा रखे थे, जिनका वह शनैः-शनैः प्रयोग करना चाहती थी।

प्यार के बिरवे के पनपने से पूर्व ही चाची ने उस की डालों को काटना-छाँटना प्रारम्भ कर दिया।

वह नहीं चाहती थी कि अँगनू उसके घर आये, उस की बेटी सुरजो से बात करे, किन्तु कुछ कारणवश वह प्रत्यक्ष मना करने में भी असमर्थ थी; क्योंकि वह अँगनू से कुछ-कुछ डरती थी, उस की अक्खड़ता के कारण।

अतः अँगनू ने ज्यों ही चाची की स्वार्थभरी मीठी बातें सुनीं, उसका माथा घूम गया। वह विश्वास-अविश्वास के अथाह सागर में डुबकियाँ लगाने लगा। थोड़ी देर बाद स्थिरचित्त हो वह चलने को उद्यत हुआ। उस के उठते ही सुरजो भी आ गई। अँगनू उस की ओर विना ताके ही चलने लगा। चाची देखती रही। उसने उसे पुनः बैठने को भी नहीं कहा। किन्तु सुरजो के लिए अँगनू का इस प्रकार मौन व्यवहार नया ही था। उसने बारी-बारी से अपनी माँ और अँगनू के चेहरों की ओर गौर से देखा। उस का अन्तर किसी अज्ञात शंका से भयभीत हो उठा। वह अपनी माँ के व्यवहार से अच्छी तरह परिचित थी।

उससे न रहा गया। और वह मचलती-सी अँगनू को रोकते हुए बोली—

"अँगनू दादा, चल कैसे दिये ?"

"घर पर काम अधिक है; और अब देर भी तो हो गयी।" अँगनू ने बहाना किया।

"तो क्या हुआ, कुछ देर और बैठ लो। आज मेरे कारण देर ही सही!"

"नहीं!"

"अच्छा रुको तो!" उसने माँ से पूछा—"अम्मा तुमसे कुछ कहा-सुनी हो गई है क्या ?"

"नहीं तो!" चाची ने संक्षिप्त-सा उत्तर दे दिया। किन्तु उस की भाव-भंगिमा कुछ इस प्रकार की थी, जिसने सुरजो को सन्देह में डाल दिया।

उसने अँगनू से पुनः पूछा—"तो मुझसे न बोलोगे दादा ?"

"क्यों नहीं!" और वह कन्धे पर लाठी धरे चल दिया।

अँगनू अपने भरसक तेज चलने की चेष्टा कर रहा था; पर उसका मन दुःखी था और एकाएक पग मन-मन भर के हो उठे थे। लड़खड़ाती चाल से दुविधा में फँसा चल रहा था बेचारा!

सुरजो कुछ सम्हली, और लपक कर उसकी ओर बढ़ी। बोली—"रुको दादा, मैं भी तुम्हारे साथ आई!" अँगनू के साथ जाने से पूर्व ही चाची ने एक लम्बी फटकार बताई—"नहीं! चल इधर बेशर्म कहीं की।

सुरजो लौट पड़ी—मौन, नतमुख। उसका सारा उत्साह ठण्डा पड़ गया और आँखें डबडबा आईं। चाची ने पुनः डाँटा—"बता क्या काम था उसके साथ ? आज से फिर कभी मैंने उसके साथ देख लिया तो बोटी-बोटी काट दूँगी ! चल, घर में बैठ !" चाची क्रोध में लाल-पीली हो रही थी। सुरजो चुपचाप लौट आयी। उसने एक बार पीछे मुड़ कर देखा, अँगनू चला जा रहा था।

अध्याय : ५ :

आमों के दिन थे !

कल कुछ आँधी भी चली थी ।

और आज तड़के खूब पानी बरसा था—जल ही जल था चारों ओर !

नट-बंजर बस्ती के नन्हें-नन्हें बालक आम और जामुन बीनने के लिये मेमनों को साथ लिये निकल पड़े थे । और सामने खड़ी थी एक वृक्ष के नीचे सुरजो, अपनी बकरियों को चराती हुई—आँखों में आँसू और दिल में अँगनू की याद लिये ।

शीतल समीर बहने लगा था । एकाएक वृक्षों के पत्ते खड़खड़ा उठे । सुरजो की एक बकरी पत्ते चरते-चरते भाग खड़ी हुई । पहिले तो उसने उसे बड़े प्यार से चुमकार-पुचकार कर बुलाने की चेष्टा की । परन्तु वह तो छलाँग मारती हुई दूर जा निकली थी ।

सुरजो ने शेष बकरियों को वृक्ष से बाँध कर वहीं छोड़ दिया; और स्वयं बकरी को पकड़ने लपकी । वह जितना ही बुलाती, लौटाने का प्रयास करती, बकरी उतनी ही दूर भागती । शनैः-शनैः वृक्ष से बँधी बकरियों को उसने काफी पीछे छोड़ दिया । वह दूर निकल गयी—काफी दूर ।

बकरी चौकड़ी भरती आगे बढ़ी जा रही थी और पीछे-पीछे भागती सुरजो सोच रही थी—"हाय ! आज इसे क्या हो गया ?"

सुरजो अचानक दौड़ते-दौड़ते ठिठक गयी । उसने देखा कि किसी व्यक्ति ने बकरी की रस्सी पकड़ कर उसे अपने अधिकार में कर लिया है ।

उसने बकरी की क्षीण 'में-म' सुनी और वह भी जैसे-तैसे दौड़ कर वहाँ पहुँची । उसकी साँस फूल रही थी । कुछ हाँफने-सी लगी थी, वह । समीप पहुँचते ही उसने उस व्यक्ति को पहचान लिया । बोली—"अँगनू दादा ! तुम यहाँ कैसे ?" उसकी हँफन चढ़ी हुई थी ।

"मैं भी ढोर चराने आया था ।"

"इस ओर ! इतनी दूर ।"

"हाँ !" अँगनू ने उत्तर दिया ।

"सच दादा, यदि आज तुम न होते तो यह सुतिया मुझे न जाने कितना छकाती !" और उसने एक हलकी-सी चपत बकरी के कपाल पर लगाते हुये कहा—"क्यों री सुतिया, तुझे आज कैसा उत्पात सूझा ? भगाते-भगाते टाँगें तोड़ दीं !"

बकरी 'में-में' कर रह गई । वह धरती पर बिखरे पत्तों को चरने लगी ।

दोनों जामुन के वृक्ष तले खड़े थे । पत्तों से छन-छन कर जल की नन्हीं-नन्हीं बूँदें टपक रही थीं ।

"अँगनू दादा !" सुरजो की आँखें कुछ लज्जायुक्त आभा से चमक उठीं । बोली—"उस दिन क्या बात थी जो मुझसे सीधे मुँह बात तक नहीं की ?" कृत्रिम क्रोध से उसने मुँह बना लिया ।

"चाची ने एक बात ही ऐसी कह दी थी ।"

"चाची ने कह दी थी न ! मैंने तो नहीं ।"

अँगनू कुछ न बोला । उत्तर में उसने सुरजो की आँखों में अपनी आँखें गड़ा दीं । उसने स्पष्ट देखा, उसकी आँखों के मादक रक्तिम डोरे और अधिक रक्तिम हो उठे थे । हृदयस्पर्शी, निःस्वार्थ पवित्र प्रेम की झलक स्पष्ट दिखाई दे रही थी उनमें । मस्त, आह्लादपूर्ण, चमचमाते नेत्रों के माधुर्य का रसपान वह अधिक न कर सका । बोला—"जब तक तुम मेरे साथ हो सुरजो; मेरा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता ।" आवेश में वह कहता गया—"सब कुछ झूठ है—सब कुछ !"

"सब कुछ क्या ?" वह हैरान-सी बोली ।

अँगनू ने उत्तर नहीं दिया । एक टक देखता रहा । सुरजो उसे इस प्रकार ताकते देख शर्मा गयी । उसने सलज्ज पलकों को कई बार उठाया-गिराया । फिर एक सरल-हास्य अधरों पर छिटकाती वह बोली—" "अँगनू दादा ! तुम मुझे बड़े अच्छे लगते हो ! और तुम... तुम... !" उसका कंठ अवरुद्ध हो गया । क्या कहे, क्या न कहे—उसे कुछ सूझ ही न रहा था ।

अहा ! कैसी आराधना थी ! कितना सोज्ज्वल, कितना निश्छल, मर्मस्पर्शी प्रेम था उस का !

अँगनू उसके उत्तर को सुन कर बेसुध हो उठा। जैसे वह सब कुछ भूल गया हो—कहाँ वह था, और कहाँ उसके चरते ढोर, इसका उसे कुछ ज्ञान न रहा। किसी दूसरे ही आनन्द-लोक में विचर रहा था वह तो।

दोनों एक-दूसरे को एक टक देखे जा रहे, देखे जा रहे थे—अपनी सुध बुध भूले-से।

उसने एकाएक धीरे से सुरजो का हाथ पकड़ लिया ! उसने भी विरोध नहीं किया; क्योंकि उसे यह सब अच्छा ही लग रहा था। उसके शरीर में सिहरन-सी फैल गयी थी।

सुरजो धीरे-से बोली—"यदि समाज ने हम दोनों को न मिलने दिया तो...?"

"तो मैं जीवित न रह सकूँगा, यह समझ रखना !"

"ऐसी बुरी बात मुँह से नहीं निकाला करते, तुम्हें मेरी कसम !"

अँगनू ने लम्बी साँस लेते हुए कहा—"सुरजो ! सचमुच, तेरे बिना मैं जीवित नहीं रह सकता !"

"तो आओ, आज इस वट-वृक्ष के नीचे शपथ लें कि मरेंगे तो एक-दूसरे के लिए और जीवित रहेंगे तो एक-दूसरे के लिए... !"

"मैं तैयार हूँ !" और दोनों ने साथ-साथ जीने-मरने की सौगन्ध उठाई।

वृक्ष के पत्ते नन्हीं-नन्हीं बूँदों को साथ लिये झर पड़े—मानों बूढ़ा बट पुष्प-वर्षा करता हुआ दोनों को आशीर्वाद दे रहा हो।

सुरजो ने कहा—"अँगनू.. !"

"हाँ, सुरजो... बोलो क्या कहती हो ?"

"यह पल, घड़ी और दिवस भुला तो न दोगे !"

"नहीं सुरजो !... इन्हें कैसे भुला सकूँगा... ये तो जीवन-पर्यन्त याद रहेंगे !"

"किन्तु यह सब करने के लिये शायद हमें पुरखों का नियम भी तोड़ना पड़े...। माता-पिता के स्नेह से भी वंचित होना पड़े ! तब...?"

"मैं सभी कष्टों को झेलने को तैयार हूँ...तू मत घबड़ा...।"

"यह सब सम्भव हो सकेगा ?"

"केवल तुम अपने वायदे पर स्थिर रहना सुरजो ! बाकी मैं सब सम्हाल लूँगा।" और उसने उसका कोमल हाथ धीरे से चूम लिया। सुरजो आँखें बन्द कर सपनों में खोई-खोई बोली—"अँगनू !...मेरे प्राण ! मैं तुम्हारी हूँ, और तुम्हारी ही रहूँगी।"

फलतः कुछ देर के लिए दोनों खो-से गये इस दुनिया से बहुत दूर किसी दूसरे अनुराग के जगत् में !

सहसा 'में-में' सुन कर सुरजो को बकरियों का ध्यान आया। सुतिया अभी भी पत्ते चर रही थी।

वह बोली—"अँगनू...! मैं अब चली। बकरियों को जामुन के वृक्ष से बाँध आयी थी, पता नहीं क्या हुआ उन का ? बड़ी देर हो गई है।"

अँगनू मुस्करा दिया।

सुरजो ने बकरी की रस्सी कस कर पकड़ते हुए कहा—"चल सुतिया, अब चलें। तेरा पेट तो भर ही चुका होगा।"

और वह बकरी की रस्सी थामे चल पड़ी उसी ओर, जिधर से आयी थी। बकरी छलाँग भरने लगी। विवशतः उसे भी बकरी का साथ निभाना पड़ा।

कुछ दूर जाकर उसने मुड़ कर देखा—अँगनू अब भी खड़ा था, लाठी पर बोझ डाले—अपलक उसकी ओर निहारता हुआ।

:o: :o: :o:

सुरजो, सुतिया के साथ दौड़ लगाने के कारण थक-सी गई थी। वह हाँफती हुई जामुन के वृक्ष के पास पहुँची।

उसका हृदय धक् से रह गया ! बकरियाँ वृक्ष से न बँधी थीं । आखिर वे सब गईं कहाँ ?

समीप ही खेलते हुए एक बालक ने उसे बताया कि रमनू बकरियों को खोल कर उसी के घर ले गया है ।

वह सुतिया को लिये बुदबुदाती हुई घर की ओर चल पड़ी । वहाँ पहुँच कर देखा, रमनू चाची से बढ़-चढ़ कर बातें बघार रहा है ।

उसने बाहर खूँटे से सुतिया को बाँध दिया और दबे-सहमे पाव धरती हुई माँ के सामने जा खड़ी हुई ।

"क्यों री ! अब लौटने की सूझी है बकरियों को चरा कर ?" चाची ने उसे देखते ही डाँट कर पूछा ।

"सुतिया भाग निकली थी, मैं उसे बड़ी दूर से पकड़ कर ला रही हूँ । रमनू दादा ले तो आये हैं बाकी बकरियों को !" चाची ने उसे घूर कर देखा, और आगे कुछ न बोली ।

रमनू अँगड़ाई लेते हुए उठ बैठा—"अच्छा चाची ! अब चलूँ, साँझ होने को आई !"

"अरे ! कहाँ चला ?... कुछ देर तो और बैठ ! कौन-सा रोज-रोज आता है ? कई दिनों के बाद आज तो शकल दिखाई तूने !"

"नहीं चाची, बड़ी देर हो जायगी ! ढोर-डंगर भूखे खड़े होंगे !" रमनू बोला ।

चाची ने भी अधिक आग्रह न किया । रमनू चल दिया सुरजो को घूरता हुआ ।

सुरजो ने भी गुस्सा भरी आँखों से उस की ओर देखा, जैसे अँगारे बरसा दिये हों उस पर ।

अध्याय : ६ :

वैसे तो यह नट-बंजर कई कबीलों में विभक्त थे, परन्तु वर्षा-काल में सभी एक स्थान पर एकत्रित हो जाते थे। इनके अपने-अपने दलों के विशेष नाम थे और एकसूत्र होने के लिये मार्ग के किनारे के हरे-भरे मैदान। नट-कला प्रदर्शन, रीछ-भालु और बन्दरों का तमाशा दिखाना इनका व्यवसाय था। किसी-किसी के पास अपनी भूमि भी थी—कृषि के लिये। इन का न कोई अपना देश था न घर। सम्पूर्ण जीवन प्रायः भ्रमण करते हुए ही व्यतीत होता था।

कृषि-कार्य करनेवाले नट-बंजर सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। प्रत्येक की यही अभिलाषा रहती कि उस की बेटी किसी कृषक युवक की ही बहू बने। और ऐसे किसी भी कृषक नट युवक को देख कर सभी प्राणपण से इस बात की चेष्टा करते। कभी-कभी इस प्रकार के सम्बन्ध के प्रश्न पर छोटी-मोटी लड़ाई भी छिड़ जाती और कलह का यह सिलसिला एक पीढ़ी से ले कर कई-कई पीढ़ी तक चला करता। इनकी भाषा अपनी थी और रहन-सहन विचित्र!

इनके यहाँ नित नये दल पंच-प्रधानों द्वारा बनाये और तोड़े जाते थे। उनमें शिक्षा का प्रायः अभाव ही था। रजवाड़ों में वे एक लड़ाकू जाति के नाम से विख्यात थे।

सभी कबीलों का प्रधान-नेता पंच होता था और उसी का निर्णय सर्व-मान्य था। उसके निर्णय के बाद कहीं दाद-फरियाद नहीं थी। लेकिन फिर भी, जब ये जीविका की खोज में एक राज्य से दूसरे राज्य में जाते, तब वहाँ के नियम कानून को पूरी तरह मानते थे।

कई कबीले समय के प्रभाव से थोड़ा-बहुत सभ्य तो हो गये थे, पर उनमें भी विशेष शिक्षा-दीक्षा न थी।

अँगनू भी इन्हीं कबीलों में से एक नट-परिवार का तरुण सदस्य था—व्यायाम, आखेट और लाठी-कलामें निपुण एवं अपने कबीलेका उपसरदार!

अन्य कबीलों के साथ आ कर उसने भी बेतवाके हरे-भरे चरागाह में डेरा जमा लिया था। परन्तु जब से उस की एकमात्र प्रिय बहिन शशिय का अपहरण हुआ था, उसका मन अशान्त रहने लगा था। प्रायः एकान्त में बैठ कर वह घंटों बहिन के विषयमें सोचा करता, कदाचित् वह जीवित भी है अथवा नहीं। परन्तु बिना पंच-प्रधानों की सहमति के वह कुछ न कर सकता था। एक प्रकार से पंचों की राय उसकी राय थी, कबीले के प्रत्येक प्राणी की राय थी। और अकेले खोज करना उसके लिये सरल कार्य भी नहीं था। इसी उलझन में फँसे उसने कई दिन सोच-विचार में ही बिता दिये।

एक दिन माँ ने उससे कुछ कमा लाने को कहा—"कई दिन हो गये, तुझे पड़े-पड़े और घर में नाज भी खतम है। आज गाँव तक हो आ !... कुछ मिल ही जायेगा।"

"अम्मा जाता हूँ, अच्छा !"

और अँगनू ने अपना डंडा-झोला लिया, बन्दर-बदरिया की रस्सी सम्हाली और डमरू बजाता हुआ बंजर-बस्ती से निकल कर समीप के 'लप्पू' गाँव की ओर चल दिया।

:o: :o: :o:

डमरू के स्वर ने घर-घर के नन्हें-मुन्नों को चौंका दिया। अहा ! आज तो उनके गाँव में बन्दरवाला आया है। उन का ध्यान सब-कुछ भूल कर मदारी की ओर लग गया।

बालकों को बस एक ही धुन लगी थी, बन्दर का तमाशा देखने की। माँ दूध का कटोरा हाथ में लिये खड़ी थी और बालक भागा जा रहा था गली में। पिता पैसा देने को बुलाते, पर बेटे को अभी कुछ नहीं चाहिए।

और देखते-देखते गाँवका बालक-समूह अँगनू के आगे-पीछे जमा हो गया। कुछ-एक नर-नारी भी आ खड़े हुए।

बालकों के आग्रह पर उसने चौपालके समीप, वृक्ष की छाया तले अपना अड्डा जमाया। डमरू की परिचित ध्वनि के साथ-साथ बन्दर-बन्दरिया थिरक उठे ! वानर-नृत्य देख बालकगण भी हर्षित हो ताली बजाने लगे।

"नाच बेटा नाच, तू नाच ! हाँ, कैसे जायेगा ससुराल ? तेरी सास कौन-सी...?" आदि मजाक करते हुए वह तरह-तरह के खेल दिखाने लगा। नन्हें-मुन्ने बच्चे भी बड़े ध्यान से बन्दर-बन्दरिया का नृत्य प्रदर्शन देख रहे थे।

इसी बीच अँगनू की दृष्टि किसी न किसी ग्रामबाला पर जा पड़ती।

और उसकी स्मृति में पुनः सजीव हो उठती उसकी प्रिय बहन शशिया की तस्वीर ! वह सोचने लगता—"कदाचित्, यहीं-कहीं, किसी घर में न छिपा दी गई हो उसकी शशिया ?" लेकिन अगले ही क्षण वह अपनी इस कोरी कल्पना पर हँस देता। शशिया का क्या काम यहाँ पर ?

एक-एक कर उसने बन्दरों की सभी कलाओं का प्रदर्शन दिखा कर खेल समाप्त कर दिया। और बदले में जो दो-चार पैसे, आटा-दाल आदि उसे मिला—प्रसन्न-मुद्रा में झोली में रख कर वह दूसरे स्थान की ओर चल पड़ा।

इसी प्रकार उसने कई स्थानों पर खेल दिखाया और लगभग पाँच-छः दिनों के गुजारे के लिये उसने नाज और पैसे जुटा लिये।

संध्या होने को आयी थी। धीरे-धीरे अन्धेरा बढ़ रहा था। पशु-पक्षी सभी बसेरों को लौट रहे थे।

वह भी अपनी बस्ती की ओर तेज कदमों से चल पड़ा। गाँव के बाहर निकलते ही उसे अपने जैसा ही एक और व्यक्ति दिखाई पड़ा। समीप जाने पर उसने पहचाना, वह रमनू था। पर रमनू को देख कर भी अँगनू कतरा कर निकल जाना चाहता था। वह भी उससे नहीं बोला। उसके हृदय में रमनू के प्रति द्वेष एवं प्रतिहिंसा के भाव जग चुके थे। लेकिन वह उस का बदला किसी दूसरी तरह लेना चाहता था।

वह थोड़ा हट कर द्रुत गति से चलने लगा।

पर रमनू ने आवाज दी—"कहो अँगनू भैया ! कतरा कर क्यों निकले जा रहे हो ? क्या नाराज हो मुझसे !" इच्छा न होते हुए भी उसे कहना ही पड़ा—"नहीं तो !"

अब दोनों साथ-साथ चल रहे थे। दोनों के बन्दर उनके पीछे-पीछे।

"कहो आज का दिन कैसा रहा ?" रमनू ने फिर पूछा ।

"ठीक ही रहा ।" जैसे वह बात आगे बढ़ाने की उसकी इच्छा ही न थी ।

"मैंने तो आज पूरे आठ दिन का सामान पा लिया !" रमनू मुस्कराते हुए बोला ।

"भगवान् और ज्यादा दे तुम्हें !" यह कह कर अँगनू चुप हो रहा ।

रमनू ने उसे कुछ अनमना-सा पा कर शशिया के विषय में प्रसंग छेड़ दिया । बोला—"शशिया का कुछ पता चला ?"

"पता चला !" उसने झटके के साथ घूम कर कहा । उसकी आँखों से अग्नि की लपटें निकल रही थीं । उसे चाची के वे शब्द अभी तक याद थे । उसने कड़क कर उत्तर दिया—"मुझे ही बनाते हो रमनू ! सब कुछ तो जानते हो तुम. . . !"

"अँगनू. . . क्या बक रहे हो तुम ? सब कुछ क्या जानता हूँ मैं !" रमनू का हृदय किसी अज्ञात शंका से काँप उठा । बोला—"मुझे तो कुछ नहीं पता अँगनू भैया ! तुम्हारे कहने का मतलब नहीं समझा मैं ।"

"तू बड़ा भोला जो ठहरा. . . तुझे क्यों मालूम होगा ! तो फिर चाची सब कुछ झूठ ही कह रही थी ? सच-सच बता, नहीं तो. . . ।"

"क्या कह दिया चाची ने तुम्हें, जो इस तरह बिगड़ रहे हो ! सुनाओ ! कल मैं भी वहाँ गया था, उसने मुझसे तो कुछ नहीं कहा ।"

"तुमसे कहती ही क्यों ? तुम्हारे ही कारनामे और तुम से दोहराती. . . हूँ !"

अँगनू की शंका और भी बढ़ी । उसने मन में सोचा—"अच्छा तो रमनू अब चाची के घर भी आने-जाने लगा; जिस पत्तल में खाये उसी में छेद भी करे । पर मैं ऐसा कभी नहीं होने दूँगा । सुरजो मेरी है, मेरी रहेगी । इस की क्या मजाल जो उस पर नजर भी डाले. . . !"

परन्तु वह चाची की बातें साफ-साफ रमनू से कहना भी नहीं चाहता था । तुनक कर बोला—"अधिक न बनो रमनू, वरना. . ." उस का पारा इस समय चढ़ने लगा—"एक तो उसकी बहिन से प्रेम का ढोंग, उस पर उठा

। ! और अब चला है उस की सुरजो पर हाथ डालने । वह हन करेगा इन बातों को । फिर ऊपर से ऐसे बन रहा है जैसे में कुछ जानता ही नहीं ।" उसे रमनू पर रह-रह कर गुस्सा आ रहा था ।

आँखें दिखाते हुए उसने पुनः कहा—"फिर कह दूँ स्पष्ट ही, यही चाहते हो न ?"

"कह दो दादा, मेरे मन का संदेह भी मिट जाय !"

"संदेह !" अँगनू रोष से तमतमा उठा । बोला—"अच्छा रुको तो सही, अभी बताता हूँ ।"

रमनू रुक गया । रुकते ही उस का माथा कुछ ठनका । सोच उठा, आज अँगनू को हो क्या गया है ? किन्तु वह इतना नीच थोड़े ही है । उसने अपना झोला-डंडा एक ओर को रख दिया । शिक्षा सभ्यता और विशिष्टता को जन्म देती है; पर अनुभव सत्यता को । शिक्षित व्यक्ति कभी-कभी लोकाचार निभाने की चेष्टा करता है, किन्तु अशिक्षित के मुख से वही निकलता है जो कुछ वह देखता या सुनता है । कुछ कान का कच्चा भी होता है वह बेचारा ।

अँगनू ने मार्ग की पगडंडी से सटी हरी-हरी दूब पर खड़े होते हुए कहा—"मैंने सुना है, शशिया को तूने ही कहीं छिपा दिया है ?"

"मैंने !" रमनू के आश्चर्य का ठिकाना न रहा । उस का मुँह खुला का खुला रह गया । फटी-फटी आँखों से देखता हुआ बोला—"स्वप्न में भी ऐसा नहीं हो सकता दादा ! किसी ने तुम्हारे कान भर दिये लगते हैं ।"

"कान भर दिये हैं !" अँगनू से अधिक सहन न हो सका । चोरी और सीनाजोरी, यह खूब रहा । मुझे ही मूर्ख बनाने पर तुला है । यह सोच वह भभक उठा । प्रतिहिंसा के भाव उसके चेहरे पर स्पष्ट दिखाई देने लगे । बोला—"तो मैं झूठ बोल रहा हूँ न ?" और उसने रमनू के एक थप्पड़ जमा दिया ।

आशा के विपरीत यह आघात देख रमनू घबड़ा उठा । उसके साथ ऐसा होगा, वह सपने में भी नहीं सोच सकता था । वह रुँधे कंठ से बोला—

"मैं यह थोड़े ही कह रहा था कि तुम झूठ बोल रहे हो ! पर यह सब तोहमत है बेकार की।" उसके गाल पर पाँचों अँगुलियाँ उभर आयीं थीं।

"फिर शशिया गई कहाँ ?... सच-सच बता !"

"ईश्वर कसम, मुझे कुछ पता नहीं, दादा !"

"तू तो निरा भोला है, लेकिन मुझे धोखा न दे सकेगा !" और यह कहते न कहते अँगनू ने अपनी लाठी रमनू पर छोड़ दी। वह जोरों से कराह उठा। लाठी का घाव माथे पर काफी लगा था, अतः वह वहीं गिर पड़ा। उसने अपने हाथ आत्म-रक्षा के लिए ऊपर उठाये पर निष्फल। तब तक दूसरा लाठी का वार भी उस पर हो चुका था। जैसे-तैसे उठ कर उसने भी अपनी लाठी को घुमाया और अँगनू से भिड़ गया।

दोनों ही पैंतरे बदल-बदल कर वार कर रहे थे। कुछ देर तक लाठियाँ बजती, लगती, परस्पर-टकराती रहीं। फिर छिटक कर दूर जा गिरीं। अब दोनों खाली हाथ आमने-सामने खड़े थे, गुस्से में फुफकारते हुए-से !

कुछ क्षण बाद फिर दोनों भिड़ गये। दाँव-पेंच से दोनों एक-दूसरे को दबाने की चेष्टा में थे। लेकिन अँगनू भारी पड़ रहा था। उसने रमनू को देखते-देखते कई पटखनियाँ दे दीं; अगणित घूँसे जमाये और अन्त में उसे निर्बल-हताश छोड़, वहीं खड़ा-खड़ा मुस्कराने लगा।

रमनू का अंग-प्रत्यंग पीड़ा के मारे कराह उठा। नाक-मुँह से खून भी निकल रहा था, और अंग-प्रत्यंग छिल गये थे। थोड़ी देर बाद वह अचेत हो गया।

अँगनू गर्व से फूला बस्ती की ओर चल दिया।

अध्याय : ७ :

"हुजूर, शाही फौज को शिकस्त मिली है !" एक गुप्तचर ने आ कर बादशाह को खबर दी ।

"शाही फौज को शिकस्त !" भारत-सम्राट् शाहजहाँ की आँखें आश्चर्य से फटी की फटी रह गयीं । हाथ के एक इशारे से ही संगीत-नृत्य का कार्य-क्रम थम गया । बुन्देले और मुगल सेना को शिकस्त दे दें––यह कैसे सम्भव हो सकता है ? उसने कुछ आगे खिसक कर गुप्तचर से पूछा––"लेकिन शाही सेना के हारने की वजह ? क्या मुगल सिपहसालार की डींगें धरी की धरी रह गई ?"

गुप्तचर हाथ जोड़ कर कहने लगा––"शाहे आलम ! बात कुछ ऐसी है कि आपको यकीन न होगा । जिस वक्त शाही फौजें बुन्देलों को मात पर मात दे रही थीं, चारों ओर हमारी वाह-वाह का शोर बुलन्द हो रहा था, बुन्देला फौजें भागने की तैयारी में थीं, उसी वक्त..."

"हमें तफसील नहीं चाहिये !" शाहजहाँ ने तड़प कर गुप्तचर को डाँटा––"हम पूछते हैं––किन-किन सरदारों की गद्दारी हमारे दिल को ठेस पहुँचाने का कारण बनी है ?"

"वही तो बयान कर रहा हूँ, बादशाह सलामत !" कहते हुए गुप्तचर आधे से अधिक झुक गया । उसका हृदय धुक्-धुक् करने लगा ! उस की भाव-भंगिमा कुछ अजीब-सी हो उठी । कोरनिश बजा, वह पुनः सुनाने लगा––"राजा जुझारसिंह को क्या औकात थी जो हमारी फौजों को शिकस्त देता । वह तो सरकार, उसका छोटा भाई हरदौल सिंह और पन्ना का सरदार आ टपका । बस फिर पाँसा ही पलट गया और शाही फौज...!"

"वह बूढ़ा चम्पतराय ! उसकी यह मजाल...हमारे खिलाफ सिर उठाने की जुर्रत...नामुमकिन...!" यह सब बड़बड़ाते हुए शाहजहाँ का मुख विकृत हो उठा । आँखों में क्रोध की ज्वाला धधक उठी । सिंहासन से उठ बेचैनी से टहलने लगे शाहंशाह । दोनों हाथ पीछे थे और गर्दन झुकी-

झुकी किसी गहरी सोच में। फिर एकाएक गुप्तचर से मुखातिब हो कर कहा—"हाँ, हम समझ गये, सब कुछ ! अब तुम जा सकते हो, इजाज़त है ! लेकिन एक बात का ख्याल रहे, बाद की एक-एक खबर हमारे कान तक पहुँचती रहे। समझे ?" और वह फिर कक्ष में, कुछ चिन्तित-से ध्यान-मग्न टहलने लगे।

गुप्तचर आदाब बजा शाही कक्ष से बाहर हो गया।

बादशाह शाहजहाँ का विशाल साम्राज्य, उन दिनों अपने वैभव और ऐश्वर्य के कारण, संसार भर में ख्याति प्राप्त कर चुका था। ऐशो-आराम और विलास का रंगीन-स्वर्णिम दीपक राजमहल से ले कर जनसाधारण की कुटिया तक आलोकित था। प्रजा सुखी और साधन-सम्पन्न थी; लेकिन बादशाह को शाही आमोद-प्रमोद में भी चैन की साँस लेना नसीब नहीं था। चारों ओर षड्यन्त्र और राजनीतिक चालों का जाल फैल-सा गया था। छोटे-छोटे राजाओं रियासतों एवं जागीरदारों को अपना करदाता बनाने के निमित्त उसने अनेकों कुचक्र रचे थे और वे प्रायः सभी सफल भी हुए। परन्तु बुन्देलखण्ड का कुछ प्रदेश अभी तक उसके अधिकार में न आ पाया था। और यह उस कैसे सहन हो सकता था कि मुगल-साम्राज्य की सुदृढ़ नींव बुन्देलखण्ड के एक ही वार से डगमगा उठे। वह बुन्देलों को पूर्ण रूप से कुचल देना चाहता था। इसीलिये उसने आगरा, कनौज एवं सूबा मालवा की शाही सेनाओं को एकसूत्र में कर बुन्देलखण्ड की ईंट से ईंट बजाने के लिए भेज दिया। लेकिन हुआ कुछ और ही। एरिच के समीप, बेतवा-तट पर शाही सेनाओं से बुदेलों की करारी टक्कर हुई—बुन्देलो ने हरदौल के सेना-पतित्व में मुगलो के छक्के छुड़ा दिये। उनके पाँव उखड़ गये और वे पीठ दिखाने को मजबूर हुए। बुन्देलखण्ड पर अपना आधिपत्य देखने का शाह-जहाँ का सपना चकनाचूर हो गया।

बादशाह ने कड़वी घूँट तो पी ली, लेकिन उसकी आँखों में दो व्यक्ति काँटे की तरह खटक रहे थे। एक पन्ना का अधेड़ राजा चम्पतराय और दूसरे ओरछा के युवक सेनापति हरदौलसिंह। इन्हीं दोनों ने तो शाहजहाँ की आशाओं पर तुषारपात किया था !

गुप्तचरों ने इस बात से भी अवगत कराया कि इन दो व्यक्तियों के रहते बुन्देलखंड पर शाही सेना का अधिकार जमाना नितान्त असम्भव है।

अब शाहजहाँ वीर बुन्देलों को अपने अधीन करने में नित नये उपाय सोचने लगा। सोते-जागते उसे नये-नये कुचक्र सूझते और मिट जाते।

:o: :o: :o:

"पंचहजारी सरदार हिदायतखाँ हाज़िर हों!" शाहजहाँ ने एक सेवक को उसे बुला लाने की आज्ञा दी। इस समय भारत-सम्राट् शाही महल के एक सुन्दर सजे कमरे में बैठा था। कमरे के अन्धकार को रंग-बिरंगे झाड़-फानूस अपने प्रकाश से जगमगा रहे थे और सुनहरी कन्दीलों में सुगन्धित तेल के दीपक जल रहे थे। वातावरण शाही रोब-दाब और एकान्त के कारण और भी गम्भीर हो उठा था।

भारत-सम्राट् के मुख पर किसी गहरी चिन्ता की स्पष्ट छाप थी, पर वे उसे प्रदर्शित नहीं करना चाहता था।

थोड़ी देर बाद ही हिदायतखाँ ने कमरे में प्रविष्ट होकर आदाब बजायी।

हिदायतखाँ को सामने देख कर शाहजहाँ व्यग्रतापूर्वक बोला—"खाँ-साहब...इधर तशरीफ रखिये!" और बगल में पड़े आसन पर बैठने के संकेत किया।

हिदायतखाँ सशंकित-सा चुपचाप बैठ गया। वह सोच रहा था—"आज यह बेवक्त की बुलाहट क्यों?' शाहंशाह ने स्वयं ही प्रसंग छेड़ना उचित समझा—"कहो हिदायत खाँ, आजकल शाही फौज का क्या हाल है?"

प्रश्न कुछ बेतुका-सा था। बादशाह का मतलब इस प्रश्न के करने से क्या है? बेचारा हिदायतखाँ एकाएक कुछ समझ ही न सका। कुछ हिचकिचाते हुए वह बोला—"हुजूर! मैं आपका मकसद समझ नहीं पाया?"

"बात यह है हिदायतखाँ...यह तो आपने सुना ही होगा कि आगरा, कन्नौज और मालवा की संयुक्त फौजी ताकत को भी बुन्देलों से नदामत उठानी पड़ी है। हमारे लिये कितने शर्म की बात है यह!"

"खुदावन्द, क्या कहूँ ! मेरे कानों में भी जब से यह बात पड़ी है मुझे खाना तक हराम हो गया है ।" अब हिदायतखाँ भी बादशाह का मतलब समझ गया था । उसे कुछ ढाढ़स बन्धा । अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरता हुआ बोला—"हुजूर, यह तो...!"

"इसी सिलसिले में हमने आपको तकलीफ दी है खाँ साहब ! हमें आपसे बहुत-सी उम्मीदें हैं कि आज जरूर...!"

"हुजूर की इनायत है...आँख का इशारा कीजिये और फिर देखिये अपने नमक हलाल का...!"

"इसका हमें पूरा-पूरा यकीन है, हिदायतखाँ । और...और...!"

"जी आलमपनाह !" शाहजहाँ के मुख पर उतरते-चढ़ते भावों को देख कर हिदायतखाँ कुछ घबड़ा-सा गया ।

शाहजहाँ ने पास में पड़ा गुलाब का फूल उठाया और सूँघते हुए अपना मन्तव्य प्रकट किया—"हम समझते हैं, आप ओरछा चले जायँ तो ठीक होगा ।"

"ओरछा !" जाने की बात सुनते ही हिदायतखाँ मन ही मन काँप उठा । बुन्देलों की तलवार कितनी पैनी होती है, इसका अनुभव उसे अच्छा था । जैसे-तैसे उसने अपने को सम्हाला और मुस्कराने की चेष्टा-सी करते हुए बोला—"ब-सरो-चश्म आलमपनाह...!" लेकिन भीतर ही भीतर उसकी रूह तक थरथरा रही थी ।

शाहजहाँ कहने लगा—"इस काम के काबिल मेरी नजरों में दूसरा कोई नहीं जँचा । आप बहादुर हैं और सियासी मामलों के जानकार भी । वहाँ आपको राजदूत की हैसियत से काम करना है, राजा का पूरा-पूरा विश्वासपात्र बन कर ?"

"शाहंशाहे आलम का हुक्म सिर आँखों पर, शाही नमक तो मेरे खून के कतरा-कतरा में शामिल है । मैं तो जान तक दे देना फख्र समझता हूँ...!'

"तो वहाँ आपको खास काम...!" शाहजहाँ ने अपनी सशंकित दृष्टि इधर-उधर घुमाई । मोरपंखा झलती हुई बाँदी को इशारे से बाहर जाने का इशारा किया, और हिदायतखाँ के कान में कुछ फुसफुसाया—"...समझ गये न सब कुछ ?"

"जी हुजूर !"

"लेकिन ध्यान रहे, किसी तरह का धोखा हुआ, तो. . . ?"

"खुदावन्द के हुक्म की पूरी-पूरी तामील होगी—आप बेफिक्र रहे। थोड़े दिनों में ही बन्दे का कमाल हुजूर देख ही लेंगे. . .।"

"और हमारी उम्मीद के माफिक काम हुआ तो शाही सम्मान और तोहफों की कमी भी न रहेगी। माबदौलत की फैयाज़ी को. . . !"

"कौन नहीं जानता, शाहेज़माँ !" कोरनिश बजाते हुए हिदायतखाँ ने कहा—"आपकी दरियादिली के किस्से अरब से चीन तक फैले हैं।"

वह बादशाह का मुँहलगा सरिशतेदार था। बड़ा ही चालाक, चापलूस, षड्यन्त्रकारी और पक्का काइयाँ—बादशाह की हाँ में हाँ मिलाने-वाला। वाक्पटु और व्यवहारकुशल होने के कारण सभी को खुश रखता और समय की नजाकत को देखकर कदम रखता था। किन्तु धन का लोभी, विश्वासघाती और कपटी भी खूब था। इधर की बात उधर लगाने में तो कमाल की महारत उसे हासिल थी।

फलतः शाहजहाँ का फरमान ले कर, वह दूसरे दिन ही राजदूत की हैसियत से ओरछा की ओर रवाना हुआ।

अध्याय : ८ :

उन दिनों ओरछा बुन्देलखण्ड की राजधानी थी, अलकापुरी-सी सजी हुई, धन-धान्य से परिपूर्ण । उसका सितारा बुलन्दी पर था ।

ओरछा के शुभ्र भवन, चौड़े बाजार और साफ-सुथरी गलियाँ मानों इन्द्रपुरी को शरमाती थीं । नरेश जुझारसिंह भी सरल हृदय, प्रजापालक, निस्वार्थी, और न्यायप्रिय थे । उनकी कीर्ति दूर-दूर तक फैल चुकी थी । प्रजा भूरि-भूरि प्रशंसा करती थीं अपने राजा की ।

इधर रानी भी बहुत प्रसन्न और व्यस्त थीं, शशिबाला को पा कर, ईश्वरीय देन समझ कर ! फिर हरदौल सिंह उनके लिये, देवर ही नहीं, बल्कि पुत्र के समान थे, दोनों में देवर-भाभी के पवित्र रिश्ते से भी बढ़ कर माँ-पुत्र का सा पावन स्नेह था । हरदौल की भी उनमें अपूर्व श्रद्धा थी ।

रानी कुँवरबाला कभी-कभी शशि के सौन्दर्य और गुणों की हरदौल के सामने अति प्रशंसा करतीं थीं । किन्तु हरदौल जैसे सच्चरित्र और कर्त्तव्य-परायण व्यक्ति पर इसका कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ता था । उत्तर में बस मुस्करा कर रह जाते या ऐसे ही दूसरी बात छेड़ कर टाल जाते ।

राजसी वैभव, सुख और चतुर्दिक आनन्द के वातावरण का शशि पर कुछ दूसरा ही चमत्कार दीखा पड़ रहा था। उसका सौन्दर्य दिन दूना, रात चौगुना निखर रहा था। कहाँ उसे गाँव में नसीब होते थे, कड़े परिश्रम के रूखे-सूखे टुकड़े और कहाँ राजमहल में सुख-विलास और निश्चिन्तता ही निश्चिन्तता थी। फिर क्यों न वह चाँद का टुकड़ा बन जाती ?

इतना सब कुछ होने पर भी उसे कभी-कभी अपनी बस्ती, कुटिया, बूढ़े माँ-बाप और दादा अँगनू की याद हो आती । और इससे भी अधिक उसे चाह थी अपने प्रिय बालसखा रमनू के दर्शनों की । रमनू की छवि

उसके हृदयपट पर अपनी अमिट छाप छोड़े थी। दिन-रात वह आकुल रहती, विरह-वेदना के मारे।

कभी-कभी उसके विचारों की शृंखला कहीं-से-कहीं जा लगती। क्या फिर कभी वह दर्शन न कर पायेगी अपनी बस्ती का, रिश्तेदारों का! आह, कैसी होंगी उसकी बकरियाँ और काली गैया? इसी ऊहापोह में डूबती-उतराती वह सो जाती। उठते ही उसे पुनः ध्यान आता और वह उसी विचारावेश में घबड़ाई-सी हरदौल के पास आ कर प्रश्न कर उठती—"रावजी! कुछ पता लगा, मेरी माँ का, गाँव का?"

"अभी कहाँ शशि!" वह उसे सीधा-सा उत्तर देकर संतुष्ट कर देते—"मैं निरन्तर कोशिश में लगा हूँ और अपने कर्मचायरियों को भी पता लगाने के लिये लगा रखा है। तू घबड़ा नहीं, शशि। जल्द ही तेरे सारे दुःख दूर हो जायेंगे।"

"पर उसमें कौन-सी कठिनाई है?" शशि कहती—"बेतवा के उस पार ही तो हमारी बस्ती है!"

"सम्भव है, वे लोग कहीं चले गये हों?"

"हाँ, यह हो सकता है!" कह कर शशि दिल को ढाढ़स दे लेती। परन्तु वास्तव में हरदौल सिंह नहीं चाहते थे कि शशि राजमहल को छोड़ कहीं जाय। वह क्रमशः शशि की ओर आकर्षित होते जा रहे थे। उसके भोलेपन ने उन्हें मोह लिया था!

अस्तु, इसी भाँति शशि के अन्तर में तरह-तरह के भाव बनते-बिगड़ते; फिर उभरते और दब जाते थे। इसी प्रकार महीनों पर महीने निकल गये। शनैः-शनैः वह गत जीवन की मादक स्मृति को, अपने रमनू को भी कुछ-कुछ भूलती गयी।

और एक दिन शशिबाला रनिवास के एक सजे-सजाये प्रकोष्ठ में रेशमी गलीचे पर बैठी थी। समीप ही उसके अन्तःपुर की अन्य रानियाँ, और सखी-सहेलियाँ भी गपशप में लीन थीं। सभी का शशि के प्रति पुत्री समान स्नेह था और उसकी वाक्पटुता और मीठी भोली बातों के कारण सभी की इच्छा होती कि उससे घंटों बातें करती रहें।

हरदौलसिंह ने उसकी शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था कर दी थी। और अपनी प्रखर बुद्धि से वह कुछ ही महीनों में पढ़ने-लिखने में प्रवीण हो गयी। धार्मिक-विषयों का भी उसे सुन्दर ज्ञान हो चला था।

आज इस समय, एक पौराणिक गाथा पर चर्चा छिड़ी थी। वह प्रसंग के शंका-समाधान में अपने विचारों के आगे किसी की चलने ही नहीं दे रही थीं। उसके सभी तर्क आकाट्य थे।

अन्त में उसने स्वयं ही एक रानी से प्रश्न किया—"छोटी माँ! क्या पुराणों की बातें पक्षपातपूर्ण, एवं असत्य प्रतीत नहीं होती आप को?"

"तो इसका अर्थ यह हुआ कि सभी पुराणा आदि ग्रन्थ कोरी गप्प ही हैं?" रानी ने हँसते हुए उत्तर दिया।

"मैं यह नहीं कहती, पर...!" और बातें पूरी होने से पूर्व ही उसकी दृष्टि कुँवरबाला पर पड़ी। वह उठ खड़ी हुई।

अन्य सभी ने भी उन का सादर अभिवादन किया। कुँवरबाला भी शशिबाला के निकट आ बैठीं और बोलीं—"हम भी तो सुनें बेटी! तुम क्या शंका कर रहीं थीं? सुना है, गुरुजी ने तुम्हें पुराणों का अध्ययन भी शुरू करा दिया है!"

शशि के कपोल लज्जा से आरक्त हो उठे। रानी के दोबारा आग्रह करने पर उसने शंका को दोहराया।

कुँवरबाला ने मुस्करा कर कहा—"कोई प्रश्न करो?"

"जैसे!" शशि ने विनम्र तर्क रखा—"यदि पुराणों में श्री गंगाजी की महिमा आयी है, तो कहा है कि इसके समान पावन न सरयू है, न पुष्कर है; न यमुना है न और तीर्थराज प्रयाग ही है। और कहीं तीर्थराज का वर्णन करने लगे तो कहा—इसके समान और कोई तीर्थ है ही नहीं। कहीं-कहीं तो इसके विपरीत कुछ ही वर्णन किया है कि तीर्थयात्रा का फल साधारण है, व्रत का विशेष; व्रत से इन्द्रिय-संयम का ज्यादा और उससे अधिक भगवद्भजन का। फिर बताइये, किस तथ्य को श्रेष्ठ माना जाय? यदि एक को मानते हैं तो सभी श्रेष्ठ हैं और नहीं तो असत्य!"

सभी रानियाँ शशिबाला के इस गम्भीर तर्क को ध्यानपूर्व सुन रही थीं। उनकी प्रखर बुद्धि को देख-देख सभी दाँतों तले अंगुली दबा रही थीं।

कुँवरबाला बोलीं—"मेरी समझ में तो यह आता है बेटी! कि प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी इष्ट पर विशेष आस्था होती है। इसी को सुदृढ़ करने के लिये वह पहले का वर्णन बढ़ा-चढ़ा कर करता है। इससे साधक की वृत्ति सब ओर से हट कर एक इष्ट में लग जाती है और वह उसी में सर्वोपरि अनन्य भावना देखने लगता है।"

रानी कुँवरबाला द्वारा अपने प्रश्न का समाधान होते देख शशि प्रसन्न हो उठी।

शंका तो साधारण थी, किन्तु उसके अन्तर में कई दिनों से उथल-पुथल मचाये थी। गुरुजी से उसने पढ़ तो लिया था, पर शंका मिटाने के निमित्त कुछ पूछने का उसे साहस ही न हुआ।

लेकिन आज उसकी पूर्ण तसल्ली हुई और सब शंकाओं को मिटते देर न लगी। वह अपनी रानी-माँ के वक्ष से लिपट गई। रानी ने उसे अपने अंक से और सटा लिया जैसे वह उन्हीं की सगी बेटी हो।

:o: :o: :o:

"महाराज, मैंने कभी ऐसा नृत्य देखा ही नहीं। क्या बाग में वास्तव में इतने पुष्प होते हैं?" शशिबाला ने राजोद्यान में सैर करते हुए आश्चर्य-चकित होते हुए प्रश्न किया।

"हाँ बेटी!" रावराजा जुझारसिंह ने उत्तर दिया—"पर इसमें आश्चर्य की क्या बात है? इतने पुष्प तुमने कभी देखे नहीं क्या?"

"जी नहीं!" शशिबाला ने एक पुष्पलता को अपनी गोरी-गोरी अँगुलियों से छेड़ते हुए कहा—"इसे क्या कहते हैं महाराज?"

"रजनीगंधा।"

"रजनीगंधा क्या महाराज?"

"रात की रानी भी कहते हैं, बेटी! इसकी खुशबू रात को ही फैलती है।"

शशि महाराज जुझारसिंह के साथ राजोद्यान में घूमने आयी थी। वह बेचारी क्या जाने मखमली घास पर बिखरे ओस-बिन्दुओं और कोमल पुष्पों की मनोरम छटा को! सहसा सुगन्धित समीर का एक शीतल झोंका आया तथा फूलों और लताओं को सहलाता हुआ निकल गया। शशि के अन्तर में एक मीठी गुदगुदी-सी हो उठी!

वह बोली—"किन्तु रानी बनने के लिये तो केवल सुन्दरता ही काफी नहीं महाराज! उसमें तो और भी गुण होने चाहिएँ न?"

एक विचित्र प्रश्न सुन कर रावजी साश्चर्य शशि के मुख की ओर निहारने लगे। उन्होंने पूछा—"कौन-से गुण शशि!"

"गुण! मेरी समझ में तो राजा-रानी उन्हें ही बनने का अधिकार है, जिनके पास शत्रुओं से लड़ने के लिए अस्त्र-शस्त्र तथा पर्याप्त सेना-बल हो।"

"यदि यही बात है, तो झरबेरी और नागफनी में से किसी को रानी बना देना चाहिये। क्यों ठीक है न?"

शशि को अपने प्रश्न में कुछ त्रुटि मालूम हुई। सुन कर वह मुस्करा दी।

रावजी ने पुनः समझाया—"यह बात नहीं है बेटी, राजा-रानी बनने का अधिकार उन्हें है जो प्रजा को सुख पहुँचायें और दुष्टों को दंड दें।" शशिबाला का समाधान हो गया।

श्री जुझारसिंह राजोद्यान में टहलते हुए शशि समेत एक सरोवर के निकट पहुँचे। आज पता नहीं क्यों उनका मन कुछ उद्विग्न-सा था।

वह सरोवर के किनारे बनी संगमर्मर की चौकी पर बैठ गये। शशि भी उनके निकट बैठी। सहसा उसकी दृष्टि सरोवर के मध्य में पर· पड़ी। प्रभात की प्रथम किरण के साथ कुमुदिनी खिली थी। उसे देखते ही शशि बरबस कह उठी—"तो महाराज, कुमुदिनी ही को क्यों न रानी कहा जाय?"

रावजी का ध्यान इस समय, आकाश में बिखरे काले-धूमिल बादलों में लगा हुआ था। रूई की भाँति छितराये-बिखराये वे इधर-उधर

भाग-दौड़ लगा रहे थे। जुझारसिंह चौंक पड़े, शशि के प्रश्न को सुन कर। जल्दी में उनके मुख से निकला—"अवश्य!"

जैसे किसी को भी राजा-रानी बनाना शशि के वस में ही हो। वह खिल उठी। उसके मुख से निकला—"बोलो, महारानी कुमुदिनी की जय!"

"जय!" महाराज के मुख से भी निकला। पर वह ना जाने क्या सोच रहे थे या कौन-सी चिन्ता उन्हें सता रही थी, जो एकटक आकाश की ओर देखे जा रहे थे।

अध्याय : ६ :

सावन के मनहर दिवस आये । प्रकृति ने हरा बाना धारण किया । विशेष कर नारी-जाति पर उसने अपनी जादू की कूँची फेरी । उस पर आज तीज का अपूर्व त्योहार था । घर-घर, ग्राम-ग्राम में बालिकाएँ, ग्रामवधुएँ एम कामिनियाँ झूला डालने लगीं, संगीत की मधुर लहरी ने वातावरण को गुंजरित कर दिया ।

और आज ओरछा के राजोद्यान में भी हरियाली तीज का जमघट लगा, अपूर्व मेलोंका-सा दृश्य दिखाई देने लगा । आम्र-वृक्षों पर राज्य की ओर से झूले-हिंडोले पड़े, समस्त उचित प्रबन्ध हुए । तरुणियाँ सजीं, इठलाती बलखाती आने लगीं ।

शशिबाला ने भी रानी-माँ से तीज-त्योहार की रौनक देखने की इच्छा प्रकट की ।

बात की बात में सारा प्रबंध हो गया । रानी कुँवरबाला शशि सहित अनेक बाँदियों को साथ ले कर बाग में जा उपस्थित हुईं ।

उन्हें देखते ही नारी समुदाय सब ओर से ध्यान हटा कर, इनकी ओर ही ढुलक पड़ी ।

कुछ ने झूला झूलना छोड़ दिया, कुछ पेंगें देती रह गईं, कोई गाते-गाते ठिठक गईं और सब की आँखें केवल शशि पर जा लगीं ।

सब में कानाफूसी-सी हो रही थी कि महाराज के अनुज को कहीं से एक परी-सी युवती प्राप्त हुई है—शशिबाला ! अभी तक उसको कोई देख न पाया था । सभी के मुँह पर चर्चा भी थी उसके सम्बन्ध में "कैसी होगी वह ?"

आज सभी उसको प्रत्यक्ष देखने उठ दौड़ीं । वही शशि आज साकार वहाँ आ उपस्थित हुई थी ।

"वस्तुत: शशि, शशि ही है—एकदम चाँद का टुकड़ा !" सब के मुँह से बरबस निकल पड़ा ।

जो कोई भी शशिबाला को देख लेती, अपने को धन्य समझने लगती। उन दिनों किसी राजमहिला के प्रत्यक्ष दर्शन ईश्वर तुल्य थे।

उद्यान में ही एक सघन आम्र-वृक्ष के तले महारानी के बैठने का प्रबन्ध हुआ था। सुन्दर चन्दोवे का मण्डप सजा था। रानी कुँवरबाला, शशि तथा अन्य रानियाँ, सेविकाओं से घिरीं उसी के तले पहुँच कर मेले को देखने लगीं।

हिंडोले ऊँचे उठ रहे थे, झूले झुलाये जा रहे थे। पिकबयनी संगीत छेड़ती जा रही थीं। कुछ उसकी पुनरावृत्ति कर रही थीं। दूर तक झूले पड़े थे। उनके एक लय में निरूपित भाव, उनके यौवन के उभार की मदमाती चहक, उनकी मचलती कामनाएँ चरम सीमा पर थीं। शशि की आँखें एकटक उधर की ओर लगीं थीं।

सहसा उसको वायु की लहर में गूँजती एक मधुर-सी गीत-ध्वनि सुनाई पड़ी—

"ऐ री बहना तीज है आज!
मन भावनी, लुभावनी!!
नाच ले, गा ले...खुशी मना ले;
हृदय में नाचे उमंग री!
ऐ री!...तीज है आज!!

शशि की मन वीणा झंकृत हो उठी। उसके अंतर से एक दीर्घ निःश्वास छूटा। जैसे दीपक की लौ स्वरूप आशा टिमटिमा रही हो, और बुझना चाहती हो। किसी ने उसके अन्तर मन में कहा—"वह तो दूर है, बहुत दूर! न जाने तू क्यों और किसके लिए जीवित है? तू तो राजमद में कर्त्तव्य-भ्रष्टा बन ही चुकी। कहाँ तो तू वन में विचरण करनेवाली शशिया थी, स्वतंत्र, भोली अल्हड़ बाला, और कहाँ तू ने अपने को विषम समस्याओं में स्वयं ही उलझा लिया है।

"यदि तू इसी भाँति राजसुख में भूली रही, तो सदा-सदा के लिए खो बैठेगी रमनू को, अपने परम प्रिय सखा को! तू ने तो अपना अस्तित्व

ही मिटा दिया है ! अब तू अशक्त है, अकर्मण्य है, अपूर्ण है ! केवल सिस-कना एवं तड़पना रह गया है तेरे भाग्य में !

"मान लिया तू किसी की राजरानी बन सकेगी एक दिन, किन्तु हृदय मन्दिर में कौन विराजमान है तेरे ? अब तो तेरे सभी अधिकार छिन चुके। पगली ! कितना आनन्द था उस जीवन में—मस्त बनी गाय-बकरी चराती फिरती थी, श्याम चिरैया के साथ-साथ गा उठती थी—कहाँ गये वे तेरे कठोर हाथ जिनसे लाठी ठठकारती चलती थी ? तुझे देख कर वन-पशु भयभीत हो भाग उठते थे। वही तो है तू ! एक दम निष्क्रिय, राजमाया में फँसी—चेत, अब भी चेत. . . !"

वह अचानक चौंक पड़ी, यह सब कुछ सोचते-सोचते। उसे सब कुछ प्रत्यक्ष-सा लगा। विचारावेग में उसके मुख से अनायास निकल पड़ा—"नहीं, कभी नहीं ! वह मेरा है, मेरा. . . रमनू !" और वह सिर से ले कर पाँव तक थरथरा उठी।

समीप ही बैठी कुँवरबाला उसकी अटपटी फुसफुसाहट सुन कर चौंक पड़ीं। बोली—"क्या बात है बेटा शशि ?"

"जी !"

"क्यों, घबड़ाई-सी क्यों हो ? चौंकी किस लिए ?"

"कुछ नहीं।" शशि ने अपनी आँखों को मलते हुए बहाना किया—"यों ही आँखें लग गई थीं बस. . .।"

"अभी से नींद भी आ गयी ? अरे अभी तो लड़कियों का झूमर-गीत बाकी है। फिर पूजा भी होगी। खैर जैसी तेरी मर्जी !" कहती हुई रानी उठ खड़ी हुई—"वैसे अब रुकना व्यर्थ है।"

"क्यों माँ ?"

कुँवरबाला ने दूर की ओर आकाश दिखाते हुए कहा—"वह देख तो ! उत्तर दिशा से बिजली की चमक के साथ-साथ काली घटा उमड़ी चली आ रही है। मालूम पड़ता है जोरों से वर्षा होगी। अब चलो लौट चलें।"

शशि अनमनी-सी चुपचाप पीछे-पीछे हो ली। वह अपने में शिथिलता-सी अनुभव कर रही थी!

:o: :o: :o:

हरदौलसिंह, रावराजा वीरसिंह देवजू के कनिष्ठ पुत्र थे। पर्याप्त राज-सम्मान प्राप्त होते हुए भी उन्हें शाही ठाट-बाट और रहन-सहन से अरुचि-सी थी। यही कारण था कि वह राजमहल में न रह कर गढ़ के बाहर, रघुँनाथजी के मन्दिर के पार्श्व में उत्तर दिशा की ओर, एक महल में निवास करते थे।

इस समय वह एक हस्तलिखित ग्रन्थ 'राजनीति-शास्त्र' के एक प्रसंग में उलझे थे। भावोद्वेग से भाल पर लगे चौड़े तिलक में सिकुड़नें बन-मिट रही थीं। मालूम पड़ता था कि किसी गम्भीर प्रसंग ने उनके असाधारण व्यक्तित्व पर अपना प्रभाव जमा रखा था।

अचानक नूपुर की झनकार सुन, हरदौलसिंह का ध्यान भंग हुआ और उनकी दृष्टि दरवाजे में से आनेवाली परछाई पर जा लगी।

देखते ही उनके मुख से निकला—"अरे! शशि... तू..."

"आप भी भैया अच्छे हैं!" शशि ने पास आ कर कहा—"मुझसे कल कह दिया कि प्रातः ही शिकार को चलेंगे और आप पुस्तक पढ़ने में लीन हैं।"

"तू है निरी पगली!" हरदौलसिंह हँस कर बोले—"अभी शिकार करना क्या जाने?...तीर साधना तक तो तुझे आया नहीं। मैंने सोचा था—दो-चार दिन और सीख लोगी, तभी ले चलूँगा जंगल में। कहीं...!"

"नहीं सीखी!" वह हरदौलसिंह के शब्दों पर आश्चर्य प्रकट करते हुए बोली—"अरे! कल ही मैंने तीर चला कर एक बाज़ मार गिराया... ला कर दिखाऊँ?"

"सच! तब तो तू बड़ी बहादुर है!" और वह खुल कर हँस पड़े—"मुझे यह पता नहीं था!"

"अच्छा उठिये न भैया!...देर हो जायेगी।"

"कल चलेंगे, कल !" और हरदौलसिंह ने यह कह कर फिर पुस्तक पर नजर गड़ा दी।

शशि झुँझला उठी—"आज कहा तो कल, कल कहूँगी तो फिर कल कहेंगे ! दो-चार दिन टल ही जायेंगे, इसी तरह टालते हुए। न जाने आपकी 'कल' कब आयेगी...हूँ !" और रूठ कर उसने मुँह फेर लिया।

अपनी ओर से वह बेचारी आखेट का चुस्त लिबास पहन कर आयी थी, बिल्कुल जाने के लिये तैयार हो कर। उसके कंधे पर कमान और तीर-तूणीर कसे थे। अब 'कल' सुनते ही उसका सारा उत्साह ठण्डा पड़ गया था। हरदौलसिंह ने भी सब कुछ पढ़ लिया था शशि की भाव-भंगिमा से। वह उसकी किसी बात को टालते नहीं थे अपने भरसक। हाँ कभी-कभी उसे चिढ़ाने के लिये तनिक छेड़ भर देते थे। वह नहीं चाहते थे कि अपने सगे-संबंधियों से बिछुड़ कर शशि उदास हो। फिर भी न जाने क्या सोच कर हरदौलसिंह कुछ देर के लिये चुप ही रहे।

कुछ उत्तर न सुन शशि ने पुनः आग्रहपूर्वक कहा—"भैया ! आज जाना ही होगा आपको।"

"खैर जैसी तुम्हारी मर्जी।" और वह पुस्तक छोड़ कर उठ खड़े हुए। बोले—"अच्छा यह तो बता अपने साथ और कौन-कौन चलेंगे ?"

"कौन-कौन !" शशि ने सीधा-सा उत्तर दिया।—"सविता, मोहनी, और कमला को साथ ले चलेगें ये ही बहुत कहती थीं। आज सबकी परीक्षा हो जायगी।"

"ठीक, तुम सबको साथ लो, मैं सभी प्रबंध कर पीछे-पीछे आ रहा हूँ !"

शशि खिल उठी। और ठुमकती चाल से हरदौलसिंह के कक्ष से बाहर हुई। साथ में उसके एक नौकर भी था।

:o: :o: :o:

दूर-दूर तक फैली, सघन वृक्षों से घिरी, बिखरे पर्वत की एक तलहटी !

चतुर्दिक अन्धकारमय जंगल और उसमें निवास करनेवाले खूँखार जीव-जन्तु शेर, चीते आदि; उनकी भीषण आवाजें, चिग्घाड़ और गर्जना !

कुछ शिकारी वन में घोड़े दौड़ाते हुए पुराने शाल वृक्ष के समीप रुके। वृक्ष अपने विशाल शाखाएँ फैलाये दूर तक स्थान घेरे था। कुछ नील-गाएँ, हिरन आदि जन्तु उसकी सघन छायाओं में विश्राम कर रहे थे।

हाथ में भाला लिये एक व्यक्ति उनके पास आया और हरदौलसिंह को प्रणाम कर बोला—"रावजी ! यह रहा वह मचान, जहाँ से इन लोगों को अपनी-अपनी परीक्षा देनी होगी।"

"इतना ऊँचा, मचान... ओह...!" शशि मचान की ओर देखती हुई बोली—"उस दिन तो छोटा-सा टाँड़-मात्र बना था यहीं कहीं !"

"हाँ शशि !" हरदौलसिंह ने उत्तर दिया—"गत मास तू ने पूरी शिक्षा ही कहाँ पाई थी ? वह तो केवल मन-बहलाव के लिए था !"

शशि कुछ न बोली। वह अपनी अन्य सखियों सहित उस ऊँचे मचान की ओर निहार रही थी।

सहसा, पास ही में सिंह की गर्ज सुनाई पड़ी। सभी चौंक पड़े और सजग हो कर इधर-उधर देखने लगे।

शशि बोली—"भैया ! मैं चढ़ती हूँ मचान पर सबसे पहले !"

"शशि डर गई !' हरदौल ने व्यंग कसा।

"मैं क्यों डरने लगी ? वह देखो, मोहनी और सविता वृक्ष के पीछे खड़ी हैं मारे डर के, उन्हीं को कहीं सिंह न खा जाय !"

तब तक मोहनी और सविता अपने-अपने घोड़े सेवकों को सौंप समीप आ गई थीं।

शशि और कमला घोड़ों पर से उतर पड़ीं।

"भय ही तो लगा, तभी न मचा पर जल्दी से चढ़ने के लिये आतुर हो उठीं।" कमला ने भी चिढ़ाया।

"रहने भी दो !" शशि बोली—"मैं डरपोक थोड़े हूँ। एक बार यमराज भी सामने आ जायें, तो उनसे भिड़ जाऊँ। मैं तो यों ही पता लगाने के विचार से चढ़ना चाहती थी।"

"देख ली वीरता !" सखियों ने मुँह बना कर कहा।

हरदौलसिंह भी मुस्कराते हुए पास में खड़े सब कुछ देख-सुन रहे थे। बोले—"अच्छा! हम बतलाएँ, एक शर्त है, तुम चारों में जो कोई भी पूरी कर दे, उसे ही मचान पर सबसे पहले चढ़ने का अधिकार होगा।"

"तो जल्दी बताइए कौन-सी शर्त है आपकी?" शशि दो कदम आगे बढ़ कर बोली—"देखिये, बात की बात में मैं पूरा करती हूँ।"

"तब फिर लो, अपने-अपने तीर-कमानों सहित एक पंक्ति में खड़ी हो जाओ।"

चारों ने अपने-अपने अस्त्र सम्हाल लिये और प्रथम आने के जोश में फूली, दौड़ कर हरदौल सिंह के समीप एक पंक्ति में जा खड़ी हुईं।

आह, कितना नयनाभिराम दृश्य था वन-प्रांगण के मध्य! जैसे क्षितिज के ओर-छोर तक प्रकृति की पावन गोद में बच्चे खेल रहे हों।

चारों सहेलियाँ, अपने-अपने सुडौल कंधों पर तूणीर कसे, करों में तीर-कमान साधे पंक्तिबद्ध हो गयी थीं। सबके सौन्दर्य प्रस्फुटित हो रहे थे। सब मन में विचार रही थीं—"पता नहीं, हरदौल सिंह क्या आदेश देंगे? कौन-सी परीक्षा होगी?" एक अपूर्व, अमिट जिज्ञासा चारों के मन को उलझा रही थी।

हरदौल सिंह बोले—"वह देखो!" और हाथ से इंगित किया—"देख लिया है?"

कमला, सविता और मोहनी तो चुपचाप हरदौल सिंह के संकेत की ओर नजर दौड़ाने लगीं; किन्तु शशि ने उस ओर देख, तुरन्त ही घूम कर कहा—"देखें क्या... खाक! वहाँ कुछ हो भी तो!"

"सभी मूर्ख बन गईं।" हरदौल सिंह खिलखिला कर हँस पड़े।

चारों लज्जा से आरक्त हो उठीं।

हरदौल सिंह ने मुस्कराते हुए पुनः संकेत किया—"उस वृक्ष पर सब अपने-अपने तीर से निशाना बाँधो, जिसका तीर उसमें पहले जाकर लगेगा, उसे ही मचान पर चढ़ने का प्रथम अधिकार होगा।"

"अभी देखिए।" शशि अपना तीर-कमान सम्हालते हुए बोली—"यह कौन-सी बड़ी बात है!"

"यों नहीं ! चारों ही कमान पर तीर चढ़ा लो, मेरे 'तीन कहने पर एक साथ छोड़ना ।"

चारों सहेलियाँ सावधान हो गईं ।

"अच्छा सावधान !" शशि की ओर देख कर हरदौल सिंह बोले— "शशि, तुमने निशाना साध लिया न ?"

"जी हाँ भैया ! आप 'तीन' कहिये !"

"सुनो, एक... दो... वह देखो सामनेवाले वृक्ष पर कटी छालवाला चिह्न है... और तीन ?"

सबके तीर एक साथ छूटे । मोहनी और सविता के तीर थोड़ी ही दूर जाकर भूमि पर गिर पड़े । शशि और कमला के वृक्ष से लगे ।

शशि अपना तीर पेड़ से लगते ही बोली—"वह देखिये भैया ! मेरा निशाना सबसे पहले लगा है । चिह्न में गड़ तक गया है !"

"अ... हा ! गड़ तो गया है !" कमला मुँह बनाते हुए बोली— "चलो, पास चल कर देखें, तभी तो पता चलेगा कि किसका तीर लगा है ठीक निशाने पर ।"

"सीतल ?" हरदौल सिंह ने पुकारा ।

"आज्ञा रावजी ?" सेवक ने सामने आकर पूछा ।

"जा कर तीरों को लाओ । और हाँ देखो, जिसका तीर मेरे बताये चिह्न पर लगा हो, वही प्रथम होगा, समझ गये न ?"

"जी अन्नदाता ।" और सेवक चला गया ।

कुछ ही देर में वह तीन तीर उठा कर ले आया । "ले आये ?" हरदौल सिंह सेवक को देखते ही बोल पड़े—"बताओ, कौन-सा तीर निशाने पर ठीक बैठा था ?" और उन्होंने कुछ इशारा-सा कर दिया उसे, मुस्करा कर ।

सेवक ने एक बार शशि की ओर निहारा और तीर को दिखाते हुए बोला— "यह था निशाने पर देवाधिदेव !"

"लो, मेरी विजय रही है ।" शशि अपना तीर देख कर मारे प्रसन्नता के उछल पड़ी ।

शेष तीनों सहेलियों का मुख लज्जा से नत हो गया। उनके ओठों पर कुछ वुदवुदाहट आई और मिट गई।

शशि बोली—"तो मैं ही सबसे पहले मचान पर चढ़ने की अधिकारिणी हुई न ?"

"हाँ!" हरदौल सिंह मुस्करा दिये।

शशि मचान पर चढ़ने लगी। उनके पीछे हरदौल सिंह और फिर सभी।

:o: :o: :o:

वृक्ष पर बँधे एक विशाल मचान पर शशि, उसकी तीनों सहेलियाँ, हरदौल सिंह तथा अन्य साथी-सेवक बैठे हुए प्रकृति के सौन्दर्य का आनन्द लेने लगे। वे लोग दूर-दूर तक की वन्य-छवि देखने में लग गये।

सहसा एक अजीव-सी तीव्र गुर्राहट मंच के समीप सुनाई पड़ी। सम्भवत: कोई हिंस्र पशु पास ही में घूम रहा था।

हरदौल सिंह ने कहा—"शशि, सावधान हो जाओ। वह देखो, एक विशालकाय जंगली शूकर इसी ओर आ रहा है। मेरा संकेत होते ही, सभी तीर छोड़ना, निर्भय!"

शशि, हरदौल सिंह से कुछ सट कर बैठ गई। सबने देखा—एक हिंस्र वन-शूकर अकड़ता, गुर्राता, सम्पूर्ण वातावरण को भयभीत बनाता, वृक्ष की ओर वढ़ा आ रहा है।

उसकी गति में एक अपूर्व तेज़ी थी। उसके इधर-उधर मुँह घुमाने से, उसके विकराल दाँत चमक-से उठते थे। सहसा उसने अपनी पीठ फेरी। धरती के सूखे पत्ते चरमरा उठे।

हरदौल सिंह बोल उठे—"छोड़ो तीर!"

कई तीर शूकर की ओर एक साथ छूटे। कुछ उसे बिना लगे ही भूमि पर गिर गये, कुछ उससे भी दूर निकल गये और एक तीर उसकी आँखों में जा घुसा।

शूकर की आक्रोश भरी चिग्घाड़ फूट कर वन में फैल गई। सारा वन उस गुर्राहट से काँप-सा गया। फिर उसने लहू-लुहान खूँखार नेत्रों से मचान की ओर ताका। हरदौल सिंह ने पुनः आदेश दिया—"और तीर चलाओ!"

पुनः एक साथ कई तीर छूटे। सभी चूक गये। अब वह शूकर मचान की ओर दौड़ा। उसने एक गहरी टक्कर मचान को लगाई। अब हरदौल ने अपना भाला फेंका। शशि और उसकी सखियों ने भी कई तीर छोड़े। सब उसके देह में आधे से अधिक धँस गये।

पशु के चिथड़े हुए मुख से अन्तिम वेदनाभरी चिग्घाड़ हुई। कुछ देर वह वहीं तड़फड़ाता रहा और पीड़ा के मारे इधर-उधर भागा भी, पर अबकी बार उसे घाव गहरे लगे थे। थोड़ी देर बाद वह शान्त हो गया।

हरदौल बोले—"देखा शशि!"

शशि सहेलियों सहित सिमटी-सिकुड़ी-सहमी बैठी थी। उसके मुख से निकला—"उफ! कितना भयंकर और विकराल है यह शूकर!"

"हाँ!" हरदौलसिंह ने उत्तर दिया—"यही दिखाने तो लाये थे हम कि यहाँ कैसे-कैसे हिंस्र पशु रहते हैं।"

शशि भय के मारे थर्रा उठी। उसने इतना भयंकर शूकर कभी न देखा था। उसकी इच्छा मचान से उतरने की नहीं हो रही थी। उसका साहस डगमगा उठा।

हरदौल सिंह ने कहा—"चलो, नीचे उतर कर देखें अपने इस शिकार को!" और स्वयं सबसे पहिले नीचे उतरने के लिये आगे बढ़े। सबने उनका अनुसरण किया। एक महाकाय डरावना शूकर भूमि पर चित्त पड़ा था। उसके मुख से रक्त बह रहा था तथा उसकी देह तीरों से बिंध-सी गयी थी। हरदौल सिंह के भाले ने उसके पेट को चीर डाला था। वह मर चुका था।

हरदौल सिंह ने पास जाकर उसके शरीर से सब तीर खींच लिये—लहू से भरे! फिर शशि की ओर देखते हुए बोले—"पहचानती हो अपना तीर?"

"क्यों नहीं ?" शशि तीरों को परखने लगी ।

फिर सबने अपने-अपने तीरों को देखा । शशि पुनः उछल पड़ी । इस बार वह फिर सफल रही । एक तीर उसका भी था, उन तीरों में । तीनों सहेलियाँ निराश-सी मुँह ताकने लगीं ।

हरदौल सिंह बोले—"कमला, सविता और मोहिनी ! आज क्या कारण हुआ, जो तुममें से किसी का तीर भी नहीं लग पाया ?"

तीनों चुप, नत-मुख लज्जा से गड़ गईं ।

हरदौल को उन पर तरस आया । उनके साहस को धक्का पहुँचते देख वह ढाढ़स बँधाते हुए बोले—"घबराओ नहीं, बार-बार ठोकर खाने के बाद ही सफलता मिलती है ।"

पर शशि आज और दिनों से अधिक प्रसन्न दिखाई दे रही थी । उसके नेत्रों में विलक्षण चमक थी । आज वह परीक्षा में पूर्णतया उत्तीर्ण हुई थी ।

सन्ध्या की पतली काली चादर धीरे-धीरे फैल रही थी । वन का सन्नाटा भी बढ़ता जा रहा था ।

हरदौल सिंह ने सिपाहियों को राजगढ़ चलने का आदेश दिया । बात की बात में सब तैयार हो गये । कुछ लोग शिकार किये हुए शूकर को ले चलने की व्यवस्था में जुट गये ।

कुछ ही देर बाद, सभी लोग हरदौल सिंह के पीछे-पीछे अपने घोड़े दौड़ाते, विशाल वन से बाहर निकलते दिखाई पड़े ।

अध्याय : १० :

शाहजहाँ के भेजे हुए सैनिक, ओरछा में वसन्तोत्सव के दिन, कुछ भी न कर पाये। और यह सूचना पा कर, वह दाँत पीस कर रह गया। बुन्देलों को इतनी मजाल, जो मुगल सल्तनत के आगे सिर न झुकायें !

इधर हरदौल और चम्पतराय ने मिल कर एक अपूर्व कार्य कर डाला। मुगल सम्राट् के दो प्रचंड विरोधी, तटस्थ केन्द्रों—बुन्देलखंड और महाराष्ट्र—को एक दूसरे से न मिलने देने के लिये गोंडों का 'देवगढ़' दीवार का काम करता था। चम्पतराय ने हरदौल को सुझाया—"इस दीवार को ही समूल से नष्ट कर देना चाहिये।"

हरदौल तो सदा इस ताक में रहा ही करते थे। आज उनको पन्ना का सरदार भी योग दे रहा था। एक और दो मिल कर ग्यारह बन गये।

एक दिन अवसर पाकर हरदौल सिंह ने ज्येष्ठ भ्राता राव जुझार सिंह से आग्रह किया—"भैया ! देवगढ़ सदा से ओरछा के अधीन रहा है; पर इधर कई वर्षों से गोंडों ने उस पर अनुचित अधिकार बना रखा है। यदि आदेश हो तो गोंडों से अपना इलाका क्यों न छीन लिया जाय ?"

काफी वाद-विवाद के उपरान्त हरदौल अपने बड़े भाई की आज्ञा प्राप्त करने में सफल हुए। जुझार सिंह की समझ में सब मामला आ गया था। अतः उन्होंने गोंड-प्रदेश पर आक्रमण करने का आदेश दे दिया। सौभाग्य से 'धमोनी' के गोंड-नरेश ने भी बुन्देलों को रास्ता दे दिया और सभी प्रकार से मदद की। सिंहवाहिनी की तरह बुन्देल-सेना एक रात को गोंडों पर टूट पड़ी। चार-दिन तक दोनों सेनाओं में भीषण मार-काट हुई। दोनों ओर के हजारों सैनिक हत हुए। खून की नदी बह निकली। गोंडों ने जी तोड़-कर मुकाबिला किया, पर रणचण्डी की बुन्देलों पर विशेष कृपा रही। हरदौल सिंह के कुशल नेतृत्व और बुन्देलों के पराक्रम के सामने शत्रु-पक्ष की कुछ पेश न गयी। देवगढ़ प्रान्त के एक दुर्ग 'चौरागढ़' पर ओरछा का अधि-

कार हो गया। बुन्देलों की खुशी का ठिकाना न रहा। उनकी हिम्मत चौगुनी बढ़ गयी, क्योंकि यह गोंड-प्रदेश का मुख्य दुर्ग था।

मुगल-सम्राट् यह समाचार सुनते ही जल-भुन कर राख हो गया। उसे रह-रह कर अपने सरदारों पर गुस्सा आ रहा था, जो ओरछा पर कब्जा करने पर निष्फल रहे थे। उसके दिल में रह-रह कर क्रोधाग्नि भड़क उठती थी। आँखों से चिनगारियाँ फूट पड़ती थीं, पर कुछ कर सकने में मजबूर था। अन्त में उसने बहुत सोच-विचार के बाद शाहजादा औरंगजेब को पत्र लिखा——

शाहजादे,

अपने नाम के साथ 'औरंग' और 'ज़ेब' लगाना फिजूल है, जब कि हिन्दू मुगल बादशाहत के सामने सिर उठा रहे हैं। हमारी फौजें पिट रही हैं, और तुम हो कि मस्त पड़े सो रहे हो। याद रखो, दक्खिन की सूबेदारी तुम्हें उस दिन ही मिल पायेगी, जिस दिन तुम बुन्देलखण्ड को जीत कर हरदौल और पन्ना के राजा चम्पराय के मरने की खबर मुझे दोगे। हम इसी तरह शिकस्त खाते रहे, तो समझो मुगलों का सिक्का भी थोड़े दिन ही चल पायेगा। ज्यादा लिखना मुनासिब नहीं समझता। मुझे तुमसे अब भी बड़ी उम्मीदें हैं।

तुम्हारा

शाहजहाँ

किसी न किसी प्रकार इस पत्र का सार जुझारसिंह के कानों में भी जा पड़ा।

अतः शाही आक्रमण की पुनः आशंका से राव जुझारसिंह चौरागढ़ में ही रुके रहे और हरदौल ओरछा लौट आये।

:o: :o: :o:

"महाराज ! एक मुगल सैनिक दिल्ली से शाही फरमान लाया है। और आपसे मिलने का इच्छुक है। महाराज का क्या आदेश है ?" एक चोबदार ने आ कर जुझारसिंह को सूचना दी।

"शाही दूत...और फरमान ले कर!" जुझारसिंह ने कुछ सोच-विचार कर आदेश दिया—"खैर, भेज दो उसको!"

"जो आज्ञा, महाराज!" चोवदार अभिवादन कर बाहर चला गया।

महाराज जुझारसिंह उस समय औरछा के एक राजकक्ष में विराजमान थे। समीप ही उनके कुछ सरदार एवं सभासद बैठे शासन-प्रबंध की बातें कर रहे थे। अचानक रावजी ने पूछा—"तुम्हें इस बात का पता कैसे चला, गम्भीरसिंह?"

"अन्नदाता! यह तो एक लम्बी कथा है।" गम्भीरसिंह हाथ जोड़ बोला—"फिर कभी सुन लीजियेगा, अभी आप...!"

"नहीं, अभी सब-कुछ बताना होगा, तुम्हें!" रावराजा जुझारसिंह तीव्र जिज्ञासा प्रकट करते हुए बोले—"यह कैसे सम्भव हो सकता है कि ओरछा का स्वामी हो कर भी मैं उसके प्रति हो रहे षड्यन्त्र को न जान सकूँ?"

"पर महाराज! अभी-अभी तो शाही दूत को आपने बुलाया है। वह इधर ही आता होगा।"

"अरे! यह तो मैं भूल ही गया था वीरन सिंह जी। जाइये, शाही दूत को अतिथिगृह में ठहराने का समुचित प्रवन्ध कर दीजिये। और हाँ, यह भी ध्यान रहे कि उसके भोजन आदि की व्यवस्था में कोई त्रुटि न रहे!"

दुर्ग-रक्षक राव जुझारसिंह की आज्ञा पा कर बाहर चले गये। इसके बाद गम्भीरसिंह ने कहना शुरू किया—"महाराज! उस दिन मेरी पत्नी की तबीयत कुछ अच्छी नहीं थी, मैं वैद्य के घर की ओर कुछ औषधि-उपचार के लिये चल पड़ा। रात का समय था। अपने घर से कुछ ही दूर बढ़ा हूँगा कि मैंने सामने से एक घुड़सवार को तेजी से आते देखा। पहिले तो मैंने सोचा, होगा कोई, मुझे क्या? पर उस घुड़सवार ने पास आ कर मुझसे ही पूछा—'यह रास्ता किस ओर गया है?'

"मुझे उसकी वेशभूषा देख कर कुछ सन्देह-सा हुआ और मैंने उससे घोड़े से उतरने को कहा। वह उतर पड़ा। अन्धकार में मैंने उसे ध्यान-

पूर्वक देखा, उसकी वेषभूषा को पहचाना, उसकी लटकती कृपाण भी देखा। मुझे तो वह शाही गुप्तचर-सा प्रतीत हुआ।"

नरेश जुझारसिंह इस रहस्यपूर्ण कथा को सुनने में बड़ी रुचि ले रहे थे।

गंभीरसिंह कहता जा रहा था—"मैंने उनसे प्रश्न किया, कौन हो तुम ?"

"शायद तुम प्रश्न से अपना कुछ प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हो!" उसने अकड़ कर कहा।

मैं बोला—"ऐसा ही समझो।" उसने फिर कहा—"चाहे मार्ग बताओ या नहीं, मैं नहीं बताता कौन हूँ।" और इतना कह कर वह अपने अश्व पर सवार होने के लिये उद्यत हुआ। मेरी शंका दृढ़ हो गई। तुरन्त विचारा, यदि इसके गर्व को यहीं अन्त कर दिया जाय तो कदाचित् कुछ रहस्य अवश्य हाथ लगेगा।

"अस्तु ज्यों ही उसने अश्व पर सवार होने को पीठ फेरा मैंने खड्ग से उसका काम तमाम कर दिया। एक चीख मात्र फूटी उसके मुख से और वह वहीं ढेर हो गया। तदुपरान्त उसके वस्त्रों को मैंने टटोला और मुझे यह शाही मोहर तथा यह रहस्यपूर्ण पत्र प्राप्त हुआ।"

"अति उचित।" मारे प्रसन्नता के जुझारसिंह का मुखमण्डल दीप्तिमान हो उठा। कुछ सोच कर उन्होंने पुनः प्रश्न किया—"परन्तु तुमने उसकी मृत देह तथा अश्व का क्या किया ?"

"देवाधिदेव! अश्व तो मैंने राजकीय अश्वशाला के अधिकारी अश्वधार को सौंप दिया और शव को अज्ञात भय के कारण वहीं झाड़ियों में फेंक दिया।"

"हूँ!" जुझारसिंह बोले—"तुमने हमारे राज्य को एक बहुत बड़े खतरे से बचा लिया है। इसके लिये हम तुम्हें मुख्य गोप्ता का पद देते हैं।"

"महान् कृपा सेवक पर अन्नदाता की।" वह मन ही मन खिल उठा।

तदनन्तर महाराज जुझारसिंह सभा भंग कर अतिथि-गृह की ओर चल दिये।

:o: :o: :o:

अतिथि कक्ष में प्रवेश करते ही जुझारसिंह के मुख से निकला—"ओह! हिदायत खाँ ?" हिदायत खाँ अतिथिगृह में बैठा कुछ चिन्तित-सा था। नरेश को देखते ही उसने उठ कर एक लम्बी आदाब बजाई।

श्री जुझार सिंह समीप ही पड़ी स्वर्ण-पीठिका पर बैठते हुए बोले—"कहो क्या सूचना है ?"

हिदायत खाँ के सम्मुख स्वर्ण थालों में मेवा-मिष्ठान्नों का ढेर लगा था। दो चार दाने मुख में भी थे, उनको निगलते हुए उसने उत्तर दिया—"कुछ नहीं सरकार सब ओर अमन-चैन है। मैं ओरछा होता हुआ आ रहा हूँ।"

"ओरछा जाने का कष्ट भी उठाना पड़ा आपको !"

"कोई बात नहीं सरकार ! गरीबपरवर की बस नजर चाहिये। इस अदना-पुतले को भला क्या तकलीफ हो सकती है ?"

"हाँ तो सब ओर शान्ति और हर्ष का साम्राज्य है ओरछा में ?" जैसे नरेश को आगे बात छेड़ने के लिये शब्द न मिल पाये।

हिदायत खाँ अपनी बकरे की-सी लम्बी दाढ़ी से भरा उत्सुक मुख उनकी ओर लगाये बैठा था। नरेश द्वारा उसी प्रसंग को पुनः प्रकाशित करते देख वह बोला—"सरकार ! शाही हमले की खबर कतई गलत है। बादशाह ने देवगढ़ की शिकायत पर जवाब दे दिया कि वालिद मरहूम बादशाह जहाँगीर ने गोंडवाले का इलाका ओरछा के राजा वीरसिंह जू देव को दे दिया था। देवगढ़ ओरछावालों का है, इसलिये इस मामले में हम दखल नहीं दे सकते।"

उसकी व्यवहारकुशलता, वाक्चातुर्य एवं चपलता को जुझार सिंह न समझ सके।

"तो क्या इसी पक्के इरादे के कारण शाहंशाह मुगल-सम्राट् ने आपको कष्ट दिया है ? परन्तु देवगढ़ के विषय पर कोई चर्चा चलाने से पूर्व यह बतलाओ, क्या ओरछा पर शाही सेनाओं ने आक्रमण नहीं किया ?"

"हुजूर, आप जो कुछ फरमा रहे हैं सब बजा है। लेकिन मुगल बादशाह ने जिस गलतफहमी को दूर करने के लिये मुझे भेजा है, वह यह है कि

सारी फौजें दक्खिन की तरफ शाहजादा शरीफ औरंगज़ेब के यहाँ रवाना हुई थीं, न मालूम किस वजह से उनका रुख ओरछा की तरफ़ रहा और...।"
तुरन्त ही उसने मुगल सम्राट् का फरमान खोल कर उनके हाथों में दे दिया।

जुझार सिंह ने पत्र उसके हाथों से लेकर उस पर सरसरी दृष्टि डाली।

"तो मैं यह समझूँ कि यह आक्रमण पूर्णतः गलत था।"

"जी हाँ सरकार, इसमें शक की कहीं गुन्जाइश ही नहीं है। वैसे हुजूर की जो मर्जी हो।"

बातें समाप्त हुईं।

जुझारसिंह ने शाही फरमान अपने अधिकार में किया। कुछ देर मौन रह कर वह उठ खड़े हुए। हिदायत खाँ ने खड़े हो कर सादर अभिवादन किया। उसी सन्ध्या को नरेश ने दूत को चौरागढ़ में रहने का आदेश दिया।

हिदायत खाँ राज-सम्मान में चौरागढ़ में ही रहने लगा। शनैः-शनैः दिवस और मास व्यतीत होते गये। वह अपनी विशेष-वृत्ति से नरेश जुझार सिंह का कृपा-भाजन बन गया।

अध्याय : ११ :

"क्या न्याय किया बेटा पंच-प्रधानों ने ?"

"न्याय !" अँगनू चुपचाप झोपड़ी में पड़ी खाट पर अपने आप को गिराता हुआ बोला—"बप्पा से पूछ लो।"

"क्यों, आखिर क्या तय हुआ ? तू ही न बोल ?" माँ बेटे को झझकोर उठी।

अँगनू आँखें मूँदे उद्विग्न मन पड़ा रहा। वह कुछ न बोला।

इतने में ही एक वृद्ध पुरुष ने लाठी ठठकारते हुए कुटी में प्रवेश किया। कुछ चिन्तित होते हुए बूढ़े ने कहा—"जो मैं कहता था, वही हुआ है !" उसके नेत्रों से चिनगारियाँ फूट रही थीं। उसका झुर्री पड़ा मुँह, धँसे चिबुक, लम्बी नासिका सब एक साथ फड़क उठे।

बोला—"देख लीं अपने लाल की करतूतें। अब मुँह दिखाने के योग्य भी न रहे। चार जनों से जान-पहचान थी, राह-रस्म था, वह भी इसके नते में छूट गया। अति की उड़ान अच्छी नहीं। अपने आगे किसी की चलने ही नहीं देता था। बोल, अब कहाँ जा कर बसेगा ? है कहीं ठिया-ठौर ! या तेरे बाप-दादों की रियासत कहीं रखी है, जो जा कर बस जायेगा।" वह इसी तरहकी बकवास किये जा रहा थी। जैसे वह हृदय के सारे रोष को एक साथ उगल देना चाहता हो। जैसे किसी बोझ ने उसे दबा रखा था; और वह उतार हल्का बन गया है। अँगनू की माँ सब कुछ सुन रही थी। अब उसकी बातें उसे अरुचिकर प्रतीत हुईं। उसे कोई अर्थपूर्ण बात ही न मिली थी अब तक। बोली—"कुछ मतलब की भी कहोगे कि बके ही जाओगे ! पंच-प्रधानों ने कुछ तो कहा ही होगा, मैं भी तो सुनूँ।"

वृद्ध पुरुष भावावेश में था। झल्ला उठा—"कहा पंचप्रधानों ने तुम्हारा और अँगनू का सिर ! हमें पंचायत से बाहर कर दिया। बस्ती

के साथ टिकने की मनाही हो गई। हुक्का-पानी भी बन्द हुआ। बोलो, अब क्या चारा रहा !"

"ऐं ! यहाँ तक मुसीबत आ पड़ी ! मैं सदा कहती थी बेटा, अधिक इतरा कर न चल। बोल क्या ले लिया तूने रमनू को पीट कर ? वह तो सुना है कि बच ही गया, वरना लेने के देने पड़ जाते। कल ही जग्गो कह रही थी कि उसके इतनी चोट आयी है कि खाट से उठ तक न पा रहा है। ऐसे लड़ाई झगड़ा मोल लिया जाता है ?"

फिर वह विचार-सागर में डूबने-उतराने लगी। उसका मन एक क्षण में बस्ती से दूर, पंचायत से विलग, संबन्धियों से रहित, एक साथ ही सारे दृश्य उसके नेत्रों के सामने नाच उठे। कहाँ जायेगी वह ? कैसे कुटिया के बाहर अन्य बस्ती के स्त्री-पुरुषों में मुख दिखायेगी वह ! जब चारों ओर से थू-थू की बौछार उस पर पड़ेगी, जाति से बहिष्कृत होने के व्यंग्य भरे छींटे उछाले जायेंगे, उस समय क्या दशा होगी उसकी ?

नारी समाज ऊँच-नीच की ओर अधिक ध्यान देता है।

वस्तुतः अब उसका संसार किस प्रकार का होगा, वह यह नहीं समझ पा रही थी ! वह बार-बार इसी पर मनन करने लगी कि अँगनू ने रमनू को मार-पीट कर अच्छा नहीं किया।

निराशा धैर्य की अन्तिम डोरी है। धैर्य प्रारब्ध को दोषी-निर्दोषी ठहराने का अन्तिम बाँध है। प्रारब्ध का फल ईश्वर का सहारा पाने का अन्तिम चारा है; और ईश्वर, वह सब कुछ सुनने के लिये तैयार रहता है, चाहे खोटा हो अथवा खरा !

बुढ़िया ईश्वर को ही दोषी ठहराने लगी, बोली—"उठ बेटा, कोई बात नहीं। इन दिनों जब विधाता ही हमारा खोटा है तब फिर किसका दोष ! जो होना था सो हो चुका। जब परिश्रम करेंगे, दो रोटी कहीं न कहीं मिल ही जायेगी। बस्तीवाले ही हमें कौन-सा धन-दौलत सौंप देते हैं ?"

अँगनू कुछ न बोला। वह ज्यों का त्यों गुम-सुम बना पड़ा रहा। जैसे उसने कुछ सुना ही नहीं।

वृद्ध-पुरुष ने सजल नेत्रों से साहस की प्रतिमूर्ति अपनी पत्नी की ओर देखा। कदाचित् उसे अपनी पत्नी की बातें उचित लगीं। किन्तु अनुताप की कालिमा ने वृद्धा के अन्तर में अन्धकार कर दिया।

यह रात्रि तो जैसे-तैसे कटी। दूसरे दिन अँगनू की झोपड़ी नट-बंजरों की बस्ती से दूर एक वृक्ष तले दीखने लगी।

:o: :o: :o:

जिस दिन से अँगनू की माँ ने बंजर-बस्ती छोड़ी, उसका जी अनमना-सा रहने लगा। उसका शरीर गिरता ही गया और धीरे-धीरे वह खाट पर पड़ गई। उसके हृदय में अन्तिम जरावस्था का कलंक, नट-बंजर बस्ती में अपमान, घर कर गया। इसी मनोवेदना ने उसके समाजाडम्बर पूर्ण अन्तर में मर्माघात किया। एक तो वृद्धावस्था, दूसरे यह आपत्ति का पर्वत टूट पड़ा। वह दिनोदिन रुग्ण होती गई।

वह खाट पर पड़ी-पड़ी कभी शशिया के विषय में सोचती, और कभी अँगनू के कष्टों पर विचार मग्न हो जाती। उसने शशिया के लालन-पालन में क्या उठा रखा! सभी उस कन्या के सौन्दर्य को देखकर राजरानी बनने की पदवी दिया करते थे। परन्तु वह यह सोच कर मन को समझा लेती, उसके इतने निखरे भाग्य कहाँ जो शशिया राजरानी बनेगी? शशि की मनोवेदना उसकी मनोवेदना हो उठती थी। किन्तु वह तो उससे भी पूर्व न जाने कहाँ अदृश्य हो गई। क्या पता कहाँ होगी वह? उसके हृदय में बार-बार हूक उठती, बढ़ती और मिट जाती। कहाँ उसकी शशिया, जो उसे पकड़ लाये!

और अँगनू का जीवन—अभी निरा बालक ही तो है वह! बाप बूढ़े रहे उनका आसरा ही क्या? उसी की तरह दो-चार दिन के मेहमान हैं। उस दिन क्या होगा जब उसका अँगनू इस संसार में बिल्कुल अकेला रह जायेगा? वह इस योग्य भी न रही कि कम से कम उसके हाथ तो पीले कर देती! नन्ही-सी लजीली बहू का घूँघट में छिपा मुखड़ा शायद अब

वह न देख सकेगी ! वह इसी प्रकार के विचारों में उलझी अपना दिन काट देती ।

एक दिन उसने अपनी असाध्य अवस्था समझकर अँगनू को अपने पास बुलाया । सिरहाने बिठा कर बोली—"बेटा, मेरी अन्तिम साँस चल रही है । मुझे एक-एक पल भारी लग रहा है । एक साध थी मेरी, यदि तू उसे पूर्ण करे तो कहूँ ?"

कुटिया में अँगनू के बाप थे नहीं ।

माँ की करुणा भरी बातें सुन कर अँगनू के नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी । उसका कंठ भर आया । वह माँ के बुझते नेत्रों की ओर बार-बार देखने लगा ।

उसने कातर स्वर से आश्वासन दे दिया ।

वृद्धा कहने लगी—"बेटा मैंने अपने सम्पूर्ण जीवन में यह निधि एकत्रित की है । तेरे बप्पा को इसका पता नहीं है ।" और उसने एक थैली अँगनू के हाथ पर रख दी । बोली—"तुम इस धन से अपना विवाह कर लेना । शशिया तो रही नहीं । हाँ यदि इससे पहिले...।" उसे गहरी साँस का दौरा पड़ा । वह खाँसते-खाँसते वेदम-सी हो गयी । अँगनू उसका जर्जर वक्ष सहलाने लगा ।

कुछ चेतना होने पर उसने पुनः कहने का साहस किया—"पर हाँ, जो कुछ भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष है, जो कुछ जगतातीत है सब उसी एक मात्र बिरले का है । कितनी भी मुसीबतें तुझ पर क्यों न पड़ें तू उस सुन्दर सृजनकार की स्मृति को मत विसारियो वही बेड़ा पार...!" पुनः उसको खाँसी उठी । वह खाँसते-खाँसते बेचैन हो उठी । उसका वक्ष जलने लगा ।

सहसा उसकी श्वाँस फूल गई । कंठ रुँध गया । एक हिचकी-सी आई और उसके नेत्र फटे के फटे रह गये ।

अँगनू विस्फारित नेत्रों से देखता रह गया ।

बुढ़िया माँ अँगनू को छोड़ कर सदा के लिये चल दी ।

७

अध्याय : १२ :

आह ! कितनी भीषण रात्रि थी वह ! दूर-दूर तक सायँ-सायँ सुन पड़ रहा था। अन्धकार निरन्तर बढ़ता जाता था। किन्तु वह स्वर्गीय आत्मा के समीप, राख की ढेरी मात्र के निकट बैठा था शान्त, अचल-चुप ! उसका भाग्याकाश दुर्भाग्य घनों से आच्छादित था। उसके स्वर्णिम दिवस दुर्दिन में परिवर्तित हो गये थे। वह पथिक था, थका हुआ, जीवन से हारा हुआ। समाज के कठोर नियमों को सहन करता हुआ।

वह स्मरण कर रहा था दिवंगत आत्मा के स्नेह-दीप को बेतवा-तीर पर। उसकी दृष्टि, राख की ढेरी, साधनाओंकी समाधि, ममतामयी जननी की यादगार पर गड़ी थी।

सहसा उसने एक परछाई अपनी ओर आती देखी। वह जीवन से निराश हो चुका था। उसने स्नेहमयी-माँ को खो दिया था। वह स्वयं अपने लिये अभिशाप बन चुका था। किसी समय अपने अनन्त यौवन, अखंड बल के आगे किसी की चलने ही नहीं देता था। बस उसी का फल मात्र तो था उसका फूटा भाग्य !

निर्भय वह जन जीवन से दूर, समाज के आडम्बर से दूर बैठा था। परछाईं और अधिक उसके समीप आ गई। उसके बायें कन्धे पर उस छाया ने धीरे-से हाथ रखते हुए कहा—"कब तक बैठे रहोगे अँगनू दादा यहाँ ?"

वह कुछ न बोला। वह गुम-सुम ही बैठा रहा। किन्तु उसने उस छाया को पहचान अवश्य लिया, कौन है वह ? किसकी मधुर ध्वनि है यह ! किसने उसके हृदय-कानन में कुसुम बिखेर दिया है ! किसने उसकी भावना को चूर-चूर कर डाला ! और किसने उसके टिमटिमाते दीपक को बुझा दिया ?

वह तड़प उठा। उसका हृदय विकल हो गया। उसके नेत्रों में आँसू थमे नहीं, उन्होंने भी उसका साथ छोड़ दिया। वह सोचने लगा, बिगड़े

समय में क्या सभी साथ छोड़ देते हैं ? आँसू भी नेत्रों से रूठ जाते हैं—फिर चाहे उन्हें भी मिट जाना पड़े, भूमिसात् होना पड़े !

उसी राख की ढेरी में समा गये थे उसके आँसू । आह ! कितने भाग्यशाली थे उसके अश्रुविन्दु, जो उसकी बुढ़िया-माँ से जा मिले ।

दुःख का वह आगार, अवसन्नता का वह जीवन-पुन्ज अबकी बार चौंक पड़ा । उसने फिर सुना—"अँगनू दादा मैं हूँ सुरजो !"

उसने अपने पीछे घूम कर देखा, अपनी प्रियतमा को ! अपनी वीर प्रेयसी को !

वह भी उसे निःस्तेज दृष्टिगत हुई । उसे लगा जैसे उसकी प्रियतमा में भी जीवन नहीं है । मस्ती के वह सुखद-दिवस उसे क्षण-भंगुर से लगे ।

माँ की बीमारी देखी थी उसने । उसके जीवन-प्रदीप को बुझते देखा था । उसका अभागा हृदय टूट चुका था । उसकी मानवीय इच्छायें मिट चुकी थीं । एक सहारा था, वह भी छीन लिया था विधाता ने । अब कौन था उसका अपना ! आज ही तो समझ पाया था वह, माँ की ममता क्या होती है ? उसका दुलार-प्यार क्या होता है ? उसकी प्रेम-पूर्ण पुकार उसमें नव-जीवन का संचार कैसे कर देती थी ? उसे लगा, जीवन की सम्पूर्ण निधि, सुख-दुःख की अद्वितीय वस्तु उसने आज ही खोई है । बूढ़े बाप का क्या सहारा ? क्या आशा उस टिमटिमाते दीपक की, न उसमें वल, न प्रकाश !

जीवन से निराश, अश्रु-प्लावित नेत्र उसने सुरजो की ओर मोड़ दिये । दो अश्रु-कण पुनः ढुलक पड़े उसकी आँखों से ।

उसे कहाँ अवकाश था यह पूछने का, "इस गहन अर्ध रात्रि में तुम क्यों और किसके लिये आईं ?"

उसकी प्रेयसी, उसकी सुरजो ने फिर कहा—"तो न बोलोगे अँगनू-दादा मुझसे ! तो फिर मैं लौट जाऊँ ?" और वह चलने को उद्यत हुई ।

अब वह तड़प उठा । उसके अश्रुबिन्दु सूख गये । उसकी सिसकियें चुप पड़ गईं । उसने अपने को सम्हालते हुये पूछा—"सुरजो रानी ! क्या दिवंगत आत्मा भी कभी लौट पड़ती है ?"

सुरजो उस निर्जन स्थान में, उस अन्धकार में अपने प्रियतम के समीप घूम पड़ी और उसी से सट कर बैठ गई। अँगनू के कंधे पर अपनी गोरी-गोरी गुदगुदी हथेली को रखते हुये बोली—"आत्मा तो अमर सुनी जाती है।" चाची कहती हैं, "सुख रहित मानव देह तो क्षण-भंगुर है पता नहीं कब समाप्त हो जाय।"

"तो मेरी बुढ़िया माँ की आत्मा भी अमर हो गई होगी ?"

"निसंदेह।"

"फिर उस व्याधियुक्त. नश्वर और दुःखालय देह से मैं भी छूट सकता हूँ क्या ?"

"इसका मुझे ज्ञान नहीं। पर ऐसी बातें करने का क्या मतलब ?" कुछ देर निःशब्द रह कर वह बोली—"हाँ, यदि चाहो तो कल देवालय पर चलना। वहाँ एक महात्मा आये हैं। सुना है, बड़ी अच्छी बातें बताते हैं।"

"अच्छा अवश्य चलूँगा। सुरजो, अब मुझे यह जीवन फीका-सा दीखने लगा है।"

"बस इसी में हार मान ली।" सुरजो ने उसी अन्धकार में अपनी तिरछी चितवन द्वारा, मोदमयी, आँखों से, अपनी ओर आकर्षित करनेवाले नेत्रों को घुमाते हुए कहा—"मैं जो हूँ तुम्हारी चिर संगिनी। उठो, मैं कुटिया में रोटियाँ रख आयी हूँ ठंडी हो रही होंगी। चलकर खालो, दिन भर के भूखे होगे।"

"इस समय मैं न चलूँगा रानी। मेरा मन बड़ा दुःखी है। मेरी भूख मर चुकी है।"

"इतनी विवशताभरी आवाज! क्या भुला दोगे उस मिलन और अक्षय आस को ? चलो, घर चलें। यहाँ रह कर दुःख ही दुःख अनुभव होगा। बप्पा जी अकेले झोपड़ी में पड़े घुर्राटे ले रहे हैं। सच, आज मैंने बड़े मन से रोटियाँ पकाई हैं तुम्हारे लिये।"

"किन्तु मेरा तो सब कुछ उजड़ गया है। मेरा वहाँ अपना है कौन ? किसका घर ? कैसे किसके बप्पा जी!"

"न चलो, मैं यहीं रोटियाँ ले आ रही हूँ। गरम-गरम रोटियाँ और हरी चटनी देखकर स्वयं ही राल टपक आयेगी।" और वह उठ खड़ी हुई।

अँगनू ने देखा उस अंधकार में कुछ कुछ उजेला बढ़ रहा था। सुरजो की रहस्यमयी यौवन-सम्पन्न मुस्कान स्पष्ट प्रदर्शित हो रही थी। कलुषित हृदय को धो देने वाली सुन्दर, माधुर्य्यमयी, मदमाती, लावण्यमयी मधुरता छिटकी पड़ रही थी।

तब फिर उड़ गईं स्वप्नमय-संसार की वे कटी-फटी क्षणभंगुर वस्तुयें। भाव लोक की छिपी भावनायें। वह वासना के प्रवाह में, स्नेह, अनुराग के बंधन में जकड़ने लगा। मन मुग्धकारी सरल हास्य ने उसे चंचल बना दिया। उमड़ते हुए नव यौवन ने, मादकता के आकर्षण ने उसका सम्पूर्ण नैराश्य एक ही झपाटे में छीन लिया—बिखर कर चूर-चूर हो गया। वस्तुतः गरम-गरम रोटियाँ देखकर उसकी राल चू पड़ेगी। कितनी मोहकता थी उसके इन शब्दों में!

उसके मुख से अनायास फूटा—"रुक सुरजो? तू अकेली न जा। मैं भी चलता हूँ तेरे साथ।"

सुरजो खिल-खिला उठी। उसके हृदय में ऊँची उठनेवाली तरंगें नवयौवन के उभार से भी परे उछल गयीं।

उसका प्रेम तरुण-प्रेमियों का सा शुष्क-प्रेम न था। वह अपना सर्वस्व-धन, अपना मान-अपमान सब कुछ अँगनू को समझती थी। कितनी भी बाधाओं के आने पर वह अँगनू की थी, अँगनू उसका था।

प्रेम भावनाओं, नवीन विचारों से परिपूर्ण, नव यौवन सौन्दर्य से लदी, मदमाती वह अँगनू के साथ चल दी।

बेतवा के इस तीर पर नट-बंजर बस्ती आ पड़ी थी। यहीं से कुछ दूर अँगनू ने अपनी झोपड़ी, नट बंजर-समाज के बंधनों को, उनके न्याय को, मानापमान-विधि को मानते हुये डाल रखी थी।

कुटिया से थोड़ी ही दूर पर उसकी माँ का दाह-संस्कार हुआ था। वह प्रतिदिन उस समाधि स्थान पर, माँ के स्मृति [illegible]

बहा आता था । दिन में कई बार, रात्रि में भी जब कभी उसका मन अधिक अधिक उदास हो जाये ।

जब से बुढ़िया की मृत्यु हुई थी, सुरजो ने रोटी-पानी का भार अपने सिर ले लिया था। वह चाची से चुरा-छिपा कर प्रतिदिन बाप-बेटे के लिये दोनों समय भोजन बना जाती अथवा बना बनाया लाकर रख जाती। बप्पा जी और अँगनू, जब जी गवाही देता तो खा लेते, वरना भूखे ही रह जाते ।

समाधि-स्थान से कुछ दूर निकल आने पर अँगनू ने पूछा—"इतनी रात्रि में रोटियाँ लाने की क्या आवश्यकता थी ? यह भी कोई भोजन करने का समय है ! सुरजो तुम मेरे लिये बड़ा कष्ट उठाती हो ।"

"आज चाची देर तक जगती रहीं, इसलिये न आ सकी । परन्तु तुम सब कुछ समझते हुये भी मेरा मन क्लेषित करते हो दादा !"

"ठीक ही तो कह रहा हूँ । मेरा क्या, दो चार दिन का साथी-संगी । न जाने कहाँ चल पड़ूँ ?"

"नहीं, ऐसा न करना दादा । तुम्हारी सुरजो फिर जीवित न रह सकेगी । सरोवर सूख जायेगा । प्राण-पल्लव मुरझा जायेगा ।"

"देखा जायेगा । जब निराशा ही निराशा चारों ओर दष्टिगोचर हो रही है तो फिर कौन किसका ?"

"सो बात नहीं, यथार्थ कह रही हूँ ।"

अँगनू ने उसके नेत्रों में सत्यता की स्पष्ट झलक देखी । आगे वह कुछ न कह सका ।

कुटिया उसकी समीप आ चुकी थी । अँगनू ने प्रवेश-द्वार पर पग रखे ।

सुरजो ने चलते हुए कहा—"तो मैं चल रही हूँ । कल की याद रखना देवालय पर ।"

अँगनू ने निर्निमेष नेत्रों से देखा उसे, वह चली जा रही थी अपनी ओर ।

कुछ दूर तक वह दीख पड़ी, फिर अन्धकार में विलीन हो गई ।

:o: :o: :o:

"सुना रधिया तूने, पंच प्रधानों ने कैसा दूध-पानी कर दिया ? उसकी आँखें बन्द नहीं हैं। जो इतरा कर चलते हैं वह एक दिन यों ही कुचले जाते हैं।" चाची ने कुएँ में कच्चा घट डालते हुए साथ की महिलाओं में से एक से कहा । उसके साथ सुरजो भी आई थी जल भरने ।

रधिया ने उत्तर दिया—"परन्तु पंच प्रधानों ने यह बुरा किया । यदि उससे गलती हो भी गई थी तो क्षमा कर देते । कौन उनसे पूछ-ताछ करने आ रहा था ? वह भी तो वालक ही है, यह तो एक पक्ष का न्याय रहा ।"

"बुरा किया उन्होंने ?" चाची ने ओंठ विचकाये । जैसे उससे अँगनू से जन्म-जन्म का बैर था। बोली—"क्षमा कर देते ! इस तरह के कुकर्मों पर परमात्मा भी क्षमा नहीं करता । क्षमा तो उस समय किया जाता जब, भगवान् न करे, उसको कुछ और हो जाता । इतना सीधा बालक, न किसी से उसका अर्थ न सरोकार ? पता नहीं कब का प्रतिशोध लिया अँगनू ने उससे ।"

उन दोनों महिलाओं में परस्पर अँगनू के सम्वन्ध में टीका-टिप्पणी हो रही थी ।

किन्तु सुरजो का मूक हृदय इस बेसुरे नाटक को सुन कर दबा जा रहा था। जिसने उसे स्वप्न दिया, उसके मादक-सुनहले स्वप्न-साम्राज्य में प्रणय की नव नगरी बसायी थी, जिसके प्रेमी ने उसमें एक नवीन अंतर की रचना की थी, जो उसकी उजली माँग में कभी सिन्दूर भरने के लिये तड़प रहा था, जिसने उसका चोला बदल दिया था; और उसी तरुण-तपस्वी के विरुद्ध वह ये असहनीय शब्द सुन रही थी । उसकी वह विलक्षण लावण्यता, उसके रंग-बिरंगे सस्ते-सिमटे झीने वस्त्र, उन वस्त्रों में दीख पड़ने वाले श्वेत कोमलांग, उसके उजले-उजले पावों पर लगा महावर सब कुछ एक साथ सुरजी की आँखों में नाच उठे ।

उसका यौवन-उन्मत्त लाल-लाल मुख क्रोध से दमदमा उठा। अपनी माँ के शब्द उसे कड़वे घूँट से भी अधिक विष-तुल्य लगने लगे।

उसे इतना क्रोध आ रहा था कि यदि दूसरा कोई यह बातें छेड़ता तो कदाचित् वह उसके मुख पर पत्थर उठाकर मार देती। उसका मुख कुचल देती। सर्वनाश करने पर तुल जाती। पर आज वह विवश रही।

रधिया ने प्रसंग बदलना चाहा। बोली—"ऐ हटो भी चाची! तुम तो जैसे उससे खार खाये बैठी रहती हो। कुछ भी सही आखिर वह है तो हमारी ही बस्ती का बालक। उसकी माँ इतनी सीधी थी कि लौटकर आधी बात न कहती। बस्ती के बालक "सुतिया-कुतिया" कहकर चिढ़ाया करते, पर वह चुप ही रहती। बाप बेचारा सबसे बहिनी, बिटिया कहते ही थका करता है। यदि अनजाने उसने कुछ कर उठाया तो निरा दोषी उसी को बनाने लगीं। रमनू को तुम निरा सीधा न समझो उसका भी कुछ खोट होगा।"

सुरजो को यह पक्ष बड़ा मधुर, बड़ा सरस लगा। उसके उजले मुख पर नवीन प्रणय की लाली दौड़ गई।

चाची ने जल तो भर लिया, परन्तु बातों में उलझकर उसने अपना घट जगत पर टेंक लिया था। सुरजो भी अपना घट जाने कब का भर चुकी थी। परन्तु माँ के कारण चुप खड़ी थी। व्यर्थ में अपने और माँ को खड़ा खड़ा देखकर वह झुँझला उठी। उसने माँ से कहा—"घर भी चलोगी अम्मा, या यों ही बातें मलखोरती रहोगी?"

चाची ने अपनी बात बीच में ही कटना उचित न समझा। सुन कर वह सुरजो पर झल्ला उठी—"चल तो रही हूँ री! तू तो बहुत अधीर हुई जा रही है।"

और उसने फिर रधिया की ओर मुँह मोड़ लिया। रधिया घट उठाकर चली जा रही थी। चाची ने उसे पुकारते हुए कहा—"जैसे तुझे ही तो रोटियाँ पकानी हैं। मैं भी तो चल रही हूँ।"

रधिया बंजर-बस्ती की समझदार नारी थी। प्रायः समाज के प्रत्येक नारी झगड़े का निपटारा करने को उसे बुलाया जाता था। रमनू का उससे दूर का रिश्ता था, किन्तु वह उसको नेक नजर से नहीं देखती थी।

रमनू की उपेक्षा और अँगनू के प्रति उसके हृदय में सहानुभूति थी। अस्तु अँगनू के प्रति दुर्भाव के शब्द सुनकर उसने चाची से अधिक छेड़-छाड़ करना उचित नहीं समझा। इसीलिये वह घड़ा उठाकर चल दी। अन्य नारियाँ भी एक-एक करके आ-जा रही थीं। चाची की आवाज सुन कर वह कुछ ठिठकीं। इतने में चाची ने सुरजो सहित उसका साथ पकड़ लिया। मार्ग में रधिया ने लालच भरी दृष्टि से सुरजो की ओर देखकर नवीन प्रसंग छेड़ा—"चाची सुरजो के हाथ कब पीले करोगी?"

सुरजो सकुचा गई। उनके उज्ज्वल मुख पर लाली दौड़ गई। उसने लज्जावश अपना गोल मुख पल्लू में छिपा कर फेर लिया। और सौन्दर्य, द्युति तथा कान्ति से लसित अपने महावर रंगे पाँव को ठसकाती हुई बढ़ने लगी। जैसे उसने कुछ सुना ही नहीं।

चाची ने उत्तर दिया—"तुझे नहीं पता रधिया, मैं तो रमनू से..." उसने धीरे से कहा—"बिचारा है, तेरी दृष्टि में कैसा वर है?"

"वर तो अच्छा है। समझदार भी है, सुन्दर भी है। पर कल तुझे एक गुप्त बात बताऊँगी। यदि समझ सके तो!"

"रधिया की बातें, आज ही न आइयो शाम को।"

"यदि अवकाश मिला तब अवश्य आऊँगी।"

"अइयो अवश्य मौसी जी!" सुरजो ने अपनी माँ के शब्दो की पुनरावृत्ति की।

रधिया अपनी कुटी की ओर कट गई। चाची ने सुरजो सहित अपनी झोपड़ी में पदार्पण किया। परन्तु इस समय सुरजो का मन भारी था; और चाची का हृदय हर्ष-लोक में कल्लोल कर रहा था—न जाने क्या रहस्योद्घाटन होगा रधिया द्वारा। उसने हँस कर जो कहा था!

✪

अध्याय : १३ :

किन्तु वाह रे स्वार्थी कामासक्त संसार ! बड़े-बड़े तेरे चपेट में आ जाते हैं । कितना भी सयाना क्यों न हो, काजल की कोठरी में आते ही एक न एक लीक लग ही जायेगी । कोई कहीं अटक जाता है, कोई कहीं । कंचन की परिधि तोड़ी तो काम का जाल बिछा हुआ है । इस जाल को भी काटो तो स्वार्थ की विप वल्लरी अपनी छाया में बुलाने लगती है । फिर तरुण होना भी इस संसार में अभिशाप बन जाता है । एक दूसरे का दुश्मन है जो !

सुन्जो ने जब से रमनू के साथ अपने पाणिग्रहण संस्कार की चर्चा सुनी है, उसका उद्विग्न मन द्वेष की अग्नि से जल उठा । बरसों की तपश्चर्या के उपरान्त उसमें नव जीवन का संचार हुआ था । अपने मन चाहे प्रेमी को पाकर उसके हृदय में नई नई उमंगें उठने लगीं थी, उसके विकसित हृदय में नव-जागृति हुई थी ।

वह नया श्रृंगार करेगी । अपने चिर प्रेमी की ओर सत्प्रणय की दृष्टि डालेगी; और वह. . . उसका प्रेमी उसके चंचल नेत्रों के इशारे पर नृत्य कर उठेगा, मयूर नृत्य जैसा । किन्तु वह कैसे बँध सकेगी इस नवीन प्रणय-बन्धन में सब कुछ बिसार कर ।

रमनू, उसके घृणा का पात्र, उसके प्रेमी का कट्टर दुश्मन, क्या उसका पल्लू पकड़ेगा ? उसके घूँघट का अनावरण करेगा । वह यथाशक्ति इस कठिन आपत्यपूर्ण जीवन को टाल कर ही रहेगी ।

अस्तु, वह खोजने लगी एक ऐसे अज्ञात निर्जन स्थान को, जहाँ वह अपनी विकसित तरुणावस्था को, उठती-पलती उमंग को, उन्नत-प्रगतिशील कामनाओं को स्वतंत्र रूप से दाब सके ।

फलस्वरूप वह बस्ती से कुछ दूर निर्जन खेत में एक सरोवर के निकट आकर बैठ गई । कुछ देर शान्त बैठी रही, फिर वह उपले थापने लगी ।

उसका मन एक बारगी स्वप्न संसार में विचरने लगा। उसमें माद-कता-कोमलता की लहर थी। उसने अपना शृंगार अपने हाथों से किया था। इन दिनों उसके ऊबड़-खावड़ कपोलों पर भरी पुरी अरुणिमा सी झलकने लगी थी।

सहसा उसने एक युवक को अपनी ओर आते देखा। दूर होने के कारण वह पहचान न सकी। कुछ समीप आने पर उसका हृदय धक् से रह गया! अरे! यह तो रमनू है? उसकी घृणा का पात्र—इधर आने का उसका क्या मन्तव्य?

वह और समीप आया—और चुपचाप उसके निकट ही खड़ा हो गया।

वह उपले थापती रही। उसने रमनू की ओर उड़ती-गिरती नज़र से देखा और पूर्ववत् अपने कार्य में लगी रही, जैसे कुछ भी न हुआ हो।

रमनू ने हरी दूर्वा से छिपी हुई ऊँची-नीची भूमि, गोबर से भरे हुए स्थान पर दृष्टि डाली। वह भी चुप चित्र बना खड़ा रहा।

यकायक गोबर का एक छींटा उसके वस्त्रों पर आ लगा। कुछ मैला-उजला कुरता, घुटनों तक ऊँची धोती एक साथ क्रोध से हिल उठी। एक दाग जो लग गया था उसके वस्त्र पर—गोबर का, गन्दा!

वह सिकुड़ा-सिमटा, झुँझलाता, विस्फारित आँखों से सुरजो की ओर घूरने लगा।

अपने हाथ से दाग छुड़ाता हुआ बोला—"देख कर उपले नहीं थापती?"

"मैंने थोड़े ही कह दिया, वहाँ आकर खड़े हो। शरम नहीं आती!" सुरजो ने रमनू को अग्नि-दृष्टि से देखा।

"शरम! तुझे आनी चाहिये जो जान-बूझ कर किसी से रार ठानने चली है।"

"मैं रार ठानने चली हूँ कि तू? क्यों इस नाशवान् देह को ऊँचा-नीचा कर रहे हो? बेचारे अँगनू-दादा को समाज से बाहर करवा कर फूले न समाते होगे। वश में करो अपने मन को। यह तुम्हारा चोंगा-सा कुरता,

ये सब देह पर लगे अगणित दाग, सब एक दिन इसी गोबर-मिट्टी में मिल जायेंगे। फिर भी इससे इतना ममत्व ! तुम मिट्टी के हो, एक दिन अवश्य इसमें मिलोगे। अधिक किसी से उलझना ठीक नहीं। स्वयं एक दिन जल-बल कर राख हो जाओगे। कुत्ते, कौवे और सियार इसको खा जायेंगे। इतना घृणित शरीर—फिर भी चले इतनी सारी सम्हाल करने !" सुरजो के व्यंग्य भरे वचनों ने रमनू के हृदय पर तीव्र आघात किया। एक बारगी उसका चेहरा मारे रोष से तमतमा उठा।

परन्तु वह खेल खेलने आया था, बिगाड़ने नहीं। वह उसके रूप-सौन्दर्य का सौदा करना चाहता था, झगड़ा मोल लेना नहीं।

उसकी सारी कामनायें, भौतिक वासनायें, अतृप्त-लोलुप दृष्टि क्रोध को पी गईं। उसके कटु वाक्य एक ओर अपशब्द होते हुए भी उसे मधुर लगे।

सुरजो की उज्ज्वल, गौर वर्ण देह, उसकी उठती हुई मदमाती-तरुणावस्था देख कर उसका मन ललचा उठा। उसका मानवीय मन, काम लिप्सा के कामना-कुंज में हिलोरें लेने लगा।

वह सब कुछ सहन करता हुआ बोला—"और कुछ कह डालो मेरे मन की रानी ! तुम्हारे ये शब्द तो अमृत की वर्षा कर रहे हैं।"

एक गँवार किन्तु समझदार बंजरी थी सुरजो। उसने नीच जाति में जन्म पाया था तो क्या, उसके भाव तो ऊँचे थे। और इन दिनों तो वह सत्संग में आने-जाने लगी थी। अमृत-तुल्य प्रवचनों को सुनकर उसके भाव उच्च हो चले थे। पुरानी सुरजो और आज की सुरजो में आकाश-पाताल का अंतर आ चुका था।

उसको पर पुरुष के, जीवन शत्रु के, मुख देखे घृणित पात्र के, शब्द अति कठोर लगे। भला वह कब सहन करने लगी इन शब्दों को !

उसका भी मुख रोष से तमतमा उठा। उसने रमनू के नेत्रों में नाश के कलंक को देखा।

फलतः क्रोधावेश में भर कर उसने निर्भय, निःसंकोच गोबर का थुआ उठा कर उसकी ओर फेंक दिया।

गोबर का थुआ ठीक उसके अधरों पर जा लगा ।

कुछ कहने के लिए झल्लाते हुए उसने ज्योंही मुख खोला, कि दूसरा थुआ उसके मुख में चला गया ।

वह थू-थू करता हुआ, मुँह बनाता उसकी ओर बढ़ा । उसे पकड़ कर बलात् अपने अंक में लगाने के लिये झझकोरने लगा, छीना-झपटी में उलझ गया ।

सुरजो सने हाथों उठ खड़ी हुई ।

रमनू ने उसका हाथ पकड़ते हुए कहा—"मेरी रानी इससे क्या होगा, पत्थर फेंक कर मारो—बड़ा-सा पत्थर ! यहाँ है कौन ? आज मेरे मन की साध पूरी होगी रानी ।"

सुरजो ने उसे झिटक दिया और उसके मुख पर, उसके गाल पर गोबर की बौछार करने लगी ।

वह गोबर से अच्छी तरह नहा उठा । उसके वस्त्रों में, उसके देह में गोबर-गोबर दीख पड़ने लगा । ठीक कीचड़ में सने दुर्गन्धयुक्त भालू की सी शकल उसकी हो गई । परन्तु कामलिप्सा से मदहोश वह गोबर से सना भालू-सा ही उसकी ओर झपटा ।

सुरजो उस पर गोबर फेंक-फेंक कर अपने को बचाने का प्रयत्न करने लगी । पर वह कामातुर भालू कब माननेवाला था । उसकी बुद्धि तो उसका साथ कब का छोड़ चुकी थी । सुरजो बच कर भागी, उसने दौड़ कर उसका हाथ पकड़ लिया ।

इस बार वह जोर से चीख पड़ी ।

अनायास इस अद्भुत नाटक के मध्य एक सिंहनाद हुआ—"छोड़ दे रमनू इसे !"

गोबर से भयंकर बना रमनू ने उसका हाथ छोड़ते हुये पीछे मुड़ कर देखा—उसका मन धक् से हो गया ! उसके सामने अँगनू का बूढ़ा बाप—बप्पा जी खड़े थे ।

बप्पा जी डाँटते हुए बोले—"खबरदार ! जो इस पर हाथ लगाया ! बेहया ! तुझे शर्म नहीं आती बस्ती की बहू-बेटियों को छेड़ते हुए ! ओह !

आज मालूम हुआ मुझे कि अँगनू ने क्यों इतनी अधिक मार लगाई थी ? चला जा यहाँ से, वरना...!!" बूढ़े की देह काँपने लगी। उसके दाँत क्रोध से किटकिटाने लगे।

"तुम न बोलो ताऊ, वरना अच्छा न होगा ?" रमनू ने मुख से गोबर थूकते हुए कहा। वह बार-बार थू-थू कर रहा था।

बूढ़े की धमनियाँ फड़क उठीं, अभी उनमें रक्त सूखा न था। उसकी चौड़ी हड्डी का बना ढाँचा क्रोध से काँप उठा।

उसने रमनू को एक तमाचा रसीद करते हुए कहा—"कमीने ! चोरी करते हुए सीनाजोरी करता है ! बेशरम ! तेरा यह भाँडा अभी फूट उठेगा ? चला जा यहाँ से...!" बूढ़े ने लाठी तानी।

रमनू खाली हाथ था। न जाने क्या सोच कर चल दिया—चुपचाप, प्रतिहिंसा की अग्नि में दहकता हुआ।

सुरजो को हँसी आ गई। उसने मन में कहा—"निरा भालू !"

बूढ़ा बोला—"ठीक किया बिटिया तूने ? आज इसे अच्छी शिक्षा मिली। शरमदार होगा तब फिर कभी किसी से न बोलेगा।"

"बप्पा जी !" सुरजो के नेत्र डबडबा आये। उसका कंठ भर गया। भावावेश में वह बोल पड़ी—"आपने आज मेरी लाज रख ली, ईश्वर मुझे आपकी पुत्र-वधू...!" और वह वृद्ध पुरुष के चरणों पर गिर पड़ी।

"सच !" बूढ़े के मुख से निकला। उसने सुरजो को उठा कर हृदय से लगा लिया।

आज वृद्ध का मन अँगनू की ओर से हल्का था। सुरजो ने चोर नजर से देखा, बूढ़े के नेत्रों में आँसू छलक आये थे।

:o: :o: :o:

सुरजो हँसती-खिलखिलाती हुई घर में घुसी—बिल्कुल उन्मत्त जैसी। वह हँसती ही चली गई माँ के सम्मुख भी।

चाची ने साश्चर्य पूछा—"क्या है री ?"

उत्तर में वह खिलखिला पड़ी ।

"बताती क्यों नहीं, क्या निरी पागल हो गई है ?"

सुरजो की हँस्सी कुछ रुकी । बोली—"कुछ नहीं मैं गोबर थाप रही थी । उधर से रमनू आ निकला । कुछ देर तो वह खड़ा रहा, फिर उसने अंट-शंट बकना शुरू कर दिया । मैं सुनती रही सब कुछ—जब नहीं रहा गया तो मैंने उस पर खूब गोबर फेंका, खूब उछाला । सचमुच अम्मा वह निरा भालू-सा बन कर चला गया । निरा भालू ! रीछ कहीं का ! !"

"चल चुड़ैल !" चाची की आँखें आश्चर्य से फटी-फटी थीं । मुख खुला था, कुछ-कुछ सिमटने मुख पर पड़ने लगीं—"हाय ! तूने यह क्या किया ? क्या हो गया है आजकल तुझे ? अपने आगे बड़े छोटों को गिनती ही नहीं ! यदि उसने कुछ बुरी बात कह ही दी थी तो तेरा क्या बिगड़ गया था ? हे भगवन्, आज कल की छोकरियाँ अपने मालिक तक को. . . !" बात पूरी भी न हो पायी थी कि झोपड़ी के सहन में पाँव रखते हुए रधिया ने कहा—"क्या हो रहा है चाची ?"

उसकी बात अधूरी रह गई । अपनी मुख-मुद्रा ज्यों की त्यों बनाते हुए उसने उत्तर दिया—"आ रधिया, तेरी शाम आज हुई है !"

सुरजो ने माँ के सामने से हट कर हाथ का बिना कुशासन लाकर बिछा दिया ।

रधिया उस पर बैठती हुई बोली—"क्या कहूँ चाची, घर से तो अव-काश ही नहीं मिल पाता । मैं ही समझ रही हूँ कैसे समय निकाल कर आज आई हूँ । तेरी सौगन्ध, अब भी ललिया को रोती छोड़कर आई हूँ ।"

चाची समीप बैठते हुए बोली—"कहो सब कुशल तो है ?"

"भगवान् की दया ही समझो ।"

"क्यों क्या हुआ ?"

"कुछ नहीं ललिया जलते-जलते बची है ।"

"कैसे ?"

"मैं भोजन कर रही थी, वह आकर चूल्हे के अगाड़ी बैठ गई । बैठे ही बैठे आगे को लुढ़क पड़ी । तुम समझो बच्चा ही तो है, पैर नहीं जम पाया । मैंने तुरन्त उसे रोक लिया । ईश्वर ने खैर कर दी ।"

"हाँ रधिया, इसमें भी अच्छाई ही समझो।" चाची ने पूछा—"उस दिन क्या वात थी रमनू के वारे मे ?"

रधिया ने इधर-उधर सशंकित दृष्टि से देखा। सुरजो सामने खड़ी थी। चाची ने आशय समझ लिया। वह सुरजो को टालते हुए बोली—"बेटी जा, शाम का ईंधन बीन ला ?"

सुरजो चल ी।

दोनों में पुनः वार्तालाप छिड़ा। रधिया ने कहा—"कल तुमने रमनू से सुरजो का पल्लू बाँधने के विषय में कहा था, सो उसको तो तुम्ही अच्छा ममझो। मैं तो उसको नेक नहीं समझती।"

"सो क्यों ?"

"तुम्हें इसका ज्ञान नहीं—शशिया से रमनू का लगाव था। यह दोनों एक-दूसरे को बहुत चाहते थे। ईश्वर जाने उसका क्या हुआ, पर जब वह नहीं है तो इधर हाथ पाँव बढ़ा रहा है। उसका चरित्र उज्ज्वल नहीं है। मैंने स्वयं ही उसे बस्ती की बहू बेटियों को बुरी निगाह से परखते देखा है। पूरा बना हुआ समझो उसे !"

"यह सब ठीक हो सकता है। पर इसका अर्थ यह हुआ कि कभी अज्ञानता में यदि किसी से त्रुटि हो गई तो वह सबके हित में बुरा है।"

"बुरा हो या अच्छा ! यह तो तुम भी जानती हो कि बदलू की लड़की जुगिया इसी से परेशान होकर कुएँ में डूब कर मरी। उस समय सबने दाब-दिया। यदि मेरी राय मानो तो यह सम्बन्ध तय न करो ?"

चाची ने सूखे ओठ पर जीभ फिराते हुए, मार्ग में भटके पक्षी की तरह हताश होते हुए कहा—"फिर बस्ती में और कोई अच्छा वर भी तो नहीं है।"

'बहुतेरे—परन्तु तुम करो तब न !"

"तो तुम्हीं करो मेरी सहायता।"

"मेरे झाँझन से ही कर दो, दो अक्षरों का ही ज्ञान नहीं है उसे। और बोलो उसमें क्या कमी है।"

चाची इतना जल्दी हार माननेवाली नहीं थी। उसे यह सम्बन्ध ठीक नहीं रुचा ! झाँझन एक शराबी, उस पर न कमावे न धमावे। दिन भर

घर में ही पड़ा रहता है। इससे लाख दरजे रमनू ही क्या बुरा है ? सबके हित में बुरा हो, मेरे साथ तो उसने कोई बुराई नहीं की। वह हर दशा में रमनू को दामाद बनाने के पक्ष में थी।

कुछ विचारमग्न होने के उपरान्त उसने रधिया को उत्तर दिया—"अच्छा मैं उनसे पूछ कर उत्तर दूँगी।"

रधिया को जैसे सफलता मिली थी। उसका मन बाँसों उछल पड़ा। क्या गोरी-गोरी चिट्टी, समझदार, देखने में सुघड़ सुरजो उसकी बहू बन सकेगी ? वह मन ही मन अपने नीलकंठ की मनौती मनाती हुई चलने को तैयार हुई।

चाची ने आग्रह किया—"अरी बैठ भी, कौन रोज-रोज आना होता है।"

रधिया कुछ और टिक गई। सहसा दोनों के कानों में कुटिया के बाहर से आवाज पड़ी। चाची उठ कर बाहर आती हुई बोली—"कौन है रे !"

रधिया वहीं बैठी रही।

अरे ! यह तो बप्पा जी हैं—अँगनू के बाप। वह घबरा उठी। बंजर-बस्ती से बहिष्कृत, पंच-प्रधानों के न्याय से त्यक्त, बस्ती की सभी जातियों से हीन, सभी की दृष्टि में हेय, आज यह चाची के घर क्यों आये ? क्या वह उसके घर को भी नष्ट करना चाहते हैं ?

वह भयभीत-सी बड़प्पन रखती हुई मान-मर्यादा के अन्दर घूँघट सरकाते हुए बोली—"अन्दर आओ जेठ जी, बाहर क्यों खड़े हैं ?"

उन्होंने बाहर से ही खड़े होकर उत्तर दिया—"कोई विशेष बात नहीं है बहू। मैं यह पता लगाने आया था कि, सुरजो आ गई या नहीं ?"

"आँ, हाँ आ गई। क्यों ?"

"कुछ नहीं, बस इतना ही पूछने आया था।" उन्होंने लौट कर जाते हुये आदेश दिया—"सुरजो को अधिक इधर-उधर न भेजा करो, वह अब सयानी हुई।" कहते हुए वह चले गये। चाची अधिक कुछ न पूछ पायी। कुछ देर वहीं वह खड़ी सोचती रही—बात कुछ अवश्य है, तभी तो वह कहने आये। क्या सुरजिया भी इसी कारण हँस रही थी ?

उसके हृदय में वप्पा जी के प्रति कुछ श्रद्धा उमड़ी। इतना धर्म-निष्ठ, सत्य-प्रतिज्ञ परोपकारी पुरुष और यह कर्म फल, भोग नहीं तो क्या है?

"अब न भेजूँगी सुरजो को इधर-उधर अँधियारे-उजियाले—न भेजूँगी!" वह मन में कहती हुई झोपड़ी के अन्दर लौट पड़ी।

अध्याय : १४ :

देवोत्थानी पापान्कुशा एकादशी का दिन था। सुरजो सन्ध्या होते ही माँ से आज्ञा लेकर देवालय प्रवचन सुनने जा पहुँची। उसके हृदय में उपदेशों की अमृत-सुधा भरी पड़ी थी। एक बार के उपदेशामृत से ही उसने ज्ञान का प्रकाश पाया था, और आज तो उसका चिर प्रेमी अँगनू भी आनेवाला था। वह उसके प्रिय दर्शन ही नहीं करेगी, प्रत्युत ज्ञानी जी के सदुपदेशों द्वारा उसके अंदर जागृति भी उत्पन्न करेगी।

माँ के अंकुश ने उसे कई दिन से घर से निकलने नहीं दिया था। अतएव आज वह अपने को स्वतंत्र अनुभव कर फूली न समा रही थी। वह खुले बछड़े की तरह कुँलाचे मार कर आ पहुँची थी।

भगना-ग्राम के ज्ञानी जी प्रवचन-पीयूष की वर्षा कर रहे थे।

सुरजो चुपचाप, निःसंकोच अन्य स्त्रियों के साथ ही पीछे की ओर आकर बैठ गई।

ज्ञानी जी ने प्रवचन समाप्त करते हुए कहा—"स्मरण रखने की बात है, दूसरे के द्वारा हमारा कभी कोई अनिष्ट हो जाय तो उसके लिये दुःख न करें, उसे अपने पूर्व कर्म का फल ही समझना चाहिये। यह निश्चय है कि जगन्नियंता के दरबार में अन्याय नहीं होता, हमारा जो कुछ अनिष्ट हुआ है अथवा हम पर जो विपत्ति आई है, वह अवश्य हमारे पूर्व कृत कर्म का फल है। हमें जो कुछ भी दुःख-क्लेश मिलता है वह पूर्व कर्मफल मात्र ही है। ईश्वर तो हमें पापमुक्त करने के लिये न्यायपूर्वक फल का विधान बनाता है। पर यदि किसी ने किसी भी प्रकार से ओछा बर्ताव कर भी दिया हो, तो उस अवस्था में हमें प्रेम-व्यवहार ही करना चाहिये।"

सुरजो को प्रवचन इतना सुमधुर-सरस, कल्मषहीन लग रहा था कि वह वहाँ से उठना ही न चाहती थी। इस मधुर प्रवाह में वह किसी के आने की प्रतीक्षा भी विस्मृत कर बैठी। वह मन ही मन ज्ञानी जी को अपना

आध्यात्मिक गुरु मान बैठी। ज्ञानी जी के श्रीमुख से भागवत् की तत्वपूर्ण सुन्दर विवेचना सुरजो की सतत-साधना और अनन्य-भावना को पवित्र करने लगी। उसे जान पड़ा कि उसके अन्तर का कलुष-कल्मष उनके वचनामृत से धुल गया है और उसका जीवन कुन्दन की तरह जगमगा उठा है।

ज्ञानी जी की दृष्टि प्रवचन करते-करते अन्य नर-नारियों पर होती हुई सुरजो पर भी पड़ी।

उन्होंने देखा एक गँवारिन, पर गौर तरुणी कन्या, ऊँचा-नीचा घुटनों तक कई रंग का घाघरा पहने, केश जटाओं की तरह उलझ कर इधर-उधर विखरे हुए हैं जिसके, वह श्रद्धा से उनके प्रवचन को सुनने में लीन है। इस रूप में भी उसे प्रवचन सुनने में देख वह तुरन्त उसके अन्तर में ईश्वर-प्रेम को ताड़ गये।

धीरे-धीरे प्रवचन समाप्त हुआ। अन्य नर-नारी उठ उठ कर जाने लगे।

धीरे-धीरे सारा प्रांगण रिक्त हो गया। ज्ञानी जी अपना पोथी-पत्रा सम्हाल जाने की तैयारी करने लगे। सहसा उनकी दृष्टि सामने खड़ी सुरजो पर पड़ी। देखते ही बोले—"क्यों बेटी, कैसे खड़ी हो?"

"कुछ नहीं, यों ही।" सुरजो ने पल्लू को पकड़कर दाँतों से चबाते हुए उत्तर दिया—"जैसे लज्जा उसी में समा जाना चाहती हो।

"कुछ तो कह! फिर तेरे खड़े होने का आशय क्या है?"

"एक बात पूछना चाहती थी, महाराज?"

"पूछो बेटी?" ज्ञानी जी ने उसका उत्साह बढ़ाया।

सुरजो ने पूछा—"महाराज मनुष्य पर दुःख क्यों आता है?"

"दुःख!" उन्होंने कहा—"वह तो मनुष्य के विकास का नाम है। सच्चे मनुष्य का जीवन दुःख में ही निखरता है। बेटी, स्वर्ण का रंग तपाने पर ही चमकता है।"

"आपका कहना सत्य है। परन्तु जब चारों ओर से दुःख का पर्वत टूट पड़ता है, विश्वास और धैर्य के तार टूट जाते हैं। मानसिक-धरातल पर समाज के बहिष्कार का कोड़ा बरस पड़ता है, उस समय मनुष्य को क्या करना चाहिये? कैसे सम्हाले अपने को?"

"भोली बेटी ! तेरे प्रश्न तो बड़े गूढ़ हैं ? समझ नहीं पड़ता तूने इतना कहाँ से सीख लिया ? फिर भी अपनी...।"

ज्ञानी जी अपनी बात पूरी भी न कर पाये थे कि वह बोल पड़ी—"ज्ञानी जी, यह सब कुछ मैंने आप ही से सीखा है। मैंने अपने मन में आपको अपना आध्यात्मिक गुरु भी मान लिया है। उस दिन आप इसी सम्बन्ध में कुछ चर्चा भी कर रहे थे। मैंने सोचा किसी दिन इस शंका का समाधान आप से अवश्य करूँगी।"

ज्ञानी जी का हृदय सुरजो की तर्क-बुद्धि, ईश्वर-प्रेरणा को परख कर श्रद्धा से भर उठा। यद्यपि उन्होंने जाने की पूरी तैयारी कर ली थी, कदाचित् उठ कर जानेवाले भी थे, परन्तु फिर उन्होंने उसे समझाना ही उचित समझा। बोले—"अधिक तो मैं अपने घर पर ही बता सकता हूँ पर थोड़ा-सा इस समय सुन लो—"बात कुछ ऐसी है कि हम कण-कण में ईश्वर के निवास, उसकी सत्ता के विषय में विश्वास नहीं करते। अतएव हम भ्रान्त हो जाते हैं। हमें कुछ का कुछ दीखने लगता है। नित मंगल के स्थान पर अमंगल का और आनन्द के स्थान पर दुःख-ज्वाला का अनुभव करने लगते हैं। अब हम यदि भ्रम को मिटा दें, सत्य को स्वीकार कर लें और यह मान लें कि हमारे में तो प्रभु का निरन्तर निवास है, बस फिर तो हमारी सारी उधेड़ बुन, चिन्ता, दुःख, सदा के लिये मिट जायँ। जहाँ दृष्टि जाय, वहीं हमें सुख ही सुख दीखे। बेटी, यह कोई आवेश जन्य धारणा जैसी क्रिया का क्षणिक फल हो, सो बात नहीं है। यह तो परम सत्य-सिद्धान्त है।"

"सच ही कहते हैं आप ज्ञानी जी, बिल्कु ल सच। आज से मैं भी अपने में इस विश्वास की जड़ जमाऊँगी।"

"बेटी तेरा अवश्य कल्याण होगा।" उन्होंने सुरजो को शुभाशीर्वाद दिया और चलने के लिए उठ खड़े हुए।

वह अकेली खड़ी रह गई। अँगनू उसे अभी तक नहीं दीखा।

ज्ञानी जी को जाते देख कर वह भी घर जाने को उद्यत हुई। वह ज्यों ही पीछे को मुड़ी, उसके अधर खिल उठे।

सामने देखा अँगनू खड़ा मुस्करा रहा था।

"अब आये तुम ?" उसने घूम कर पूछा—"आज ज्ञानी जी ने बड़ी मधुर बातें बताईं। मेरा तो रोम-रोम भगवन्नाम से भर उठा है।"

"मैंने भी सुन लीं हैं ज्ञानी जी की बातें, सुरजो।"

"ये कहाँ तुन ? यों ही झूठ कह रहे हो !"

"तुम्हारे पीछे-पीछे मैं भी आकर बैठ गया था। तुम्हें प्रवचनानन्द में मग्न देख मैंने छेड़-छाड़ उचित न समझी।"

"सच !"

"बिल्कुल सच !"

"फिर मैं एक बात पूछूँ बताओगे ?" सुरजो के नेत्र चमक रहे थे। उसके हृदय में ईश्वर प्रेम की एक अलौकिक भावना चमक रही थी।

अँगनू ने उत्तर दिया—"यदि ज्ञात होगी तब तो !"

"सो ज्ञात अवश्य है।"

"अच्छा पूछो ?" अँगनू ने जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा—"मुझे शायद पता ही न हो।"

"हाँ हाँ, वही पूछूँगी जो तुम्हें मालूम होगा। अच्छा बताओ मेरी मुट्ठी में क्या है ?"

"ठाकुर जी का प्रसाद।"

"नहीं !"

"चरणामृत।"

"नहीं !"

"तब फिर क्या है।" वह सोचने लगा। कुछ देर तक सोचने के बाद कहा—"हमारा तुम्हारा पवित्र प्रेम।"

"यह भी नहीं !"

"फिर मुझे नहीं मालूम।"

"हार गये।" सुरजो बोली—"कह दो, हार गये। फिर मैं बतल दूँ।"

"मान लिया, अच्छा बतलाओ।"

"बतलाओ।" वह मुस्करा उठी। उसके गोरे गोरे दायें हाथ की मुट्ठी बँधी थी। बोली –"भगवन्नाम!"

'सच कहती हो सुरजो।'

"बिल्कुल सच।"

"आज से मैं भी सब राग-द्वेष छोड़ कर एक घंटा उस परमेश्वर का भजन-भाव किया करूँगा।"

"और मैं भी मेरे देव!" उसके नेत्र कान्ति से चमक रहे थे। बोली—"आज मुझे ज्ञात हो गया कि सच्चा अनुताप ही जीवन को निर्मल बनाने का एकमात्र अमोघ साधन है। जगत के प्रलोभन और आकर्षण की मदिरा पीकर मदमाता जीवन बेसुध हो जाता है तो दुखों की प्यार भरी मार से प्रभु उसे चेतनावस्था में लाते हैं; और अनुताप के तीर्थ में नहला देते हैं।"

"ठीक कहती हो सुरजो रानी! मेरी आँखें आज खुल गईं। कल मैं जाकर रमनू से क्षमा-याचना करूँगा। मैंने वास्तव में उसके साथ बड़ा अन्याय किया, उसने नहीं।"

सुरजो न जाने क्या सोच कर चुप रही।

:o: :o: :o:

अँगनू ने अपनी दिनचर्या में से एक घंटा भगवत् भजन का बढ़ा लिया। प्रतिदिन वह तड़के उठता, स्नान करता और ईश्वराधना में मग्न हो जाता।

इसका कुछ-कुछ आभास बस्ती के अन्य युवकों को भी मिला। वे परस्पर विचार-विनिमय करते, टीका-टिप्पणी करते—आज कल अँगनू तो भगत हो गया है—भगत। चला है न बिलौटा सत्तर चूहे जीम कर तीर्थ को।

इन आलोचनाओं की सूचना वह सुरजो द्वारा पाता। परन्तु अब उसका हृदय निर्मल हो चुका था, वह इन बातों की कोई चिन्ता न करता। उसे किसी बात की परवाह नहीं थी।

इस समय वह अपनी कुटिया में बैठा कुछ और ही विचार कर रहा था। उसकी इच्छा नगर जाकर कुछ कर उठाने की हो रही थी। वह सोचने लगा—इस बन्दर, नट-कला प्रदर्शन आदि घृणित कर्म से तो किसी की

नौकरी कर लेना कहीं अच्छा है। यह भी कोई व्यापार है, जिसमें परिश्रम करने के बाद भी भिक्षा याचना करनी पड़ती है।

दो बीघा भूमि थी उसके पास; और वह भी बटाई पर चलती थी। कुछ अन्न मिलता, बप्पा जी का ही पूरा पड़ना मुश्किल था। उस पर जब समाज ने ही बहिष्कृत कर दिया तब फिर कहीं जाकर कुछ भी किया जा सकता है।

अस्तु उसने बप्पा जी को उल्टा सीधा समझा कर नगर जाने के विचार रखे। वह राजी हो गये। उसने अपना फटा कम्बल लिया और नगर की ओर चल दिया।

सन्ध्या होते न होते वह नगर में पहुँच गया। कुछ दूर नगर में भ्रमण करने के पश्चात् उसे एक उद्यान दिखाई दिया।

वह कुछ श्रान्त-सा हो गया था। चलते चलते उसका शरीर शिथिलता का अनुभव करने लगा था। अतएव वह शीतल उद्यान में जाकर कुएँ की जगत पर बैठ गया।

पवन के शीतल झोंके आ रहे थे। उसे निद्रा ने आ दबाया। उसे फिर पता नहीं कि कितनी देर तक वह निद्रा रानी के बाहुपाश में बँधा रहा। आँख खुलते ही उसने देखा, कुछ ही दूर पर एक तरुणी खड़ी है। किन्तु जैसे उसे कोई अर्थ-सरोकार नहीं, वह ज्यों का त्यों बैठा रहा। उसने उसे देख कर अपना मुख नीचा कर लिया। तरुणी और समीप आई, इठलाती, अदा दिखाती। आते ही उसने अँगतू को नीचे से ऊपर तक देखा। युवक का सुगठित शरीर था। वह फटे-मैले वस्त्र धारण किये था। किन्तु उसकी सुन्दरता में न्यूनता नहीं आने पाई थी। उसके भोले मुख पर श्री ओज अपने मौन में भी इस ओर संकेत कर रहा था कि वह अवश्य कुछ दूर से आ रहा है।

उसकी बिखरी केशराशि, रज कणों से युक्त वह सूचित कर रही थी कि किसी भीषण चिन्तायुक्त परिस्थिति से रक्षा पाने के हेतु उसका यहाँ आना हुआ है।

फलतः तरुणी उसे भली प्रकार परख कर उसके समीप मुस्कान बिखेरती हुई बैठ गई ।

अँगनू फिर भी न बोला । अनन्तर तरुणी ने ही बात छेड़ी—"किस उद्देश्य से बैठे हैं आप यहाँ ?"

"यों ही ।" उसे एक आगन्तुक नारी से वार्तालाप करने का साहस न हो सका । किसी प्रकार हिम्मत करके उसने संक्षेप में कहा—"आप अपना मतलब बताइये ।"

"मेरा मतलब कुछ नहीं ।" वह मुस्करा दी । उसकी नासिका में पड़ी नथ ने हिलते ही उसके सौन्दर्य को दुगना कर दिया—"मैं तो आप ही से पूछ रही हूँ ।"

"कुछ काम-काज खोजने आया था । शाम होने के कारण यहाँ बैठ गया हूँ ।"

"क्या कार्य कर सकते हो ?"

"जो मिल जाये ।"

"तो मेरे साथ चलो, मैं काम दिलाऊँगी ।" तरुणी ने उसे आश्वासन दिया । "आप निःसंदेह मेरे साथ चलिये । मुझे तो एक आदमी की जरूरत भी है । आज आप मेरा आतिथ्य स्वीकार कीजिये और कल से आपको मनचाहा कार्य मिल जायेगा ।"

अँगनू ने उसकी ओर देखा । नख से शिख तक उसे परखा, उसके रंग-बिरंगे वस्त्रों से, स्वर्णाभूषणों से, रूप-सौन्दर्य से स्पष्ट प्रतीत हो रहा था कि वह मन्मथ नगर की रानी है । वह कोई सेठानी समझ कर बात न लौटा सका उसका । मन ही मन पुलकित होता हुआ उठ कर उसके साथ चल दिया ।

आगे-आगे वह थी और पीछे-पीछे अँगनू ।

अध्याय : १५ :

थोड़ा-सा मार्ग पार करते न करते तरुणी का भवन आ गया। भवन के द्वार पर पहुँच कर तरुणी पीछे को मुड़ी, उसे देखते ही बोली—"आप निःसंकोच चले आइये।"

वह चलने लगा उसके पीछे-पीछे। भवन द्वार में प्रवेश करने पर उसे कुछ अँधेरा-सा प्रतीत हुआ। किन्तु वह सहमा-सकुचा बढ़ता ही गया।

पहला प्रकोष्ठ पार करते ही कुछ प्रकाश-सा दिखाई पड़ा। वह दबे धीरे-धीरे पाँव रखते हुए उसके पीछे चला जा रहा था। तरुणी बार-बार पीछे मुड़कर देखती जा रही थी। सहसा भवन का प्रकाश पुनः क्षीण पड़ने लगा। उसके हृदय में कुछ शंका सी उपजी। किन्तु इस विचार-धारा को मन में सजाये कि अब तो आ ही गये हैं जैसा होगा भुगतना ही पड़ेगा, वह चलता ही गया। कई लघु कक्ष, प्रकोष्ठ पार करने के बाद उस तरुणी ने एक प्रकोष्ठ में विराम लिया।

बोली—"यहाँ रुकिये आप! मैं प्रकाश का प्रबंध करूँ।" और कुछ दूर जाकर वह लौट पड़ी। अँगनू ने देखा, उसके हाथ में एक दीपक था क्षीण पकाश से टिमटिमाता हुआ। उसने उस मन्द प्रकाश में कक्ष के चारों ओर दृष्टि फेंकी। कक्ष में भाँति-भाँति के चित्र सुरुचिपूर्ण ढंग से सजायें थे।

एक काष्ठ की सज्जित मसहरी एक कोने में पड़ी हुई थी, जिस पर दुग्ध सदृश बिछावन एवं गाव-तकिया उचित ढंग से रखा था। शेष सम्पूर्ण कक्ष साफ-सुथरा था।

वह कुछ सकपकाया, चकित सा समझ ही न पाया कि क्यों तरुणी उसे यहाँ तक लाई है? उससे क्या अर्थ सिद्ध करना चाहती है?

तरुणी ने दीपकावट पर दीपक रखते हुए कहा—"अरे! आप अभी तक खड़े हुए हैं, बैठिये!"

अँगनू उसकी ओर देखता हुआ मसहरी पर बैठ गया। तरुणी ने प्रश्न किया—"क्या तुम इस जगत का माधुर्य और ऐश्वर्य प्राप्त करना चाहते हो या भिक्षुक बने रहना ?"

वह इस रहस्यपूर्ण प्रश्न का अर्थ ही न समझ पाया। कुछ देर तो वह विमूढ़-सा उसका लिपा-पुता मुख निहारता रहा। फिर बोला—"आपको किस नाम से पुकारूँ ?"

"मुझे ! रंगनायका कह कर !"

वह सोचने लगा—जगत का माधुर्य और ऐश्वर्य कैसा ? कहीं इसका अर्थ मेरे जाति कुल पर कलंक से तो नहीं है !

यदि इसके किसी प्रकार के आचरण से मेरे चरित्रबल पर न्यूनता आने की संभावना हो तो उससे मैं दूर ही रहूँगा, फिर भी यदि रार ठनी तो मेरा मुष्ठ होगा और इसकी देह !

इस प्रकार वह अचल-चुप ज्यों का त्यों मूर्तिवत् बैठा रहा। वस्तुतः उसे सूझ ही नहीं रहा था कि क्या उत्तर दे।

रंगनायका ने पुनः कहा—"देखिये, यह मेरा भवन है। यहाँ पर आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को उस समय तक कार्य नहीं मिलता है जब तक वह मेरे प्रश्नों का सुस्पष्ट उत्तर नहीं दे लेता। अतएव आप भी उनमें से प्रत्येक का उत्तर देने का प्रयत्न कीजिये।"

अँगनू का मस्तिष्क इस समय तक रंगनायका के रहस्य को समझ न सका। वह जाति का नट-बंजर, क्या जाने रंगनायका जैसी तरुणी नारियों के हाव-भाव कैसे होते हैं ! उनके कहने और समझाने में क्या भेद होता है !

उसने जो जी में आया कह दिया—"अच्छा आप पूछें मैं प्रयत्न करूँगा उत्तर देने का।"

"अच्छा बताओ," रंगनायका ने पूछा—"तुम किस वस्तु को प्राथमिकता देना चाहते हो—सुन्दरी-सुधा अथवा मदिरा-सुधा ?"

अँगनू ने शान्त भाव से उसके प्रश्न को सुना पर उत्तर देने में उसने अपने आपको पूर्ण असमर्थ पाया। उसके ललाट पर विचार के गहन भाव चढ़ने-उतरते दिखाई दिये।

रंगनायका को यह समझते देर न लगी कि युवक में चरित्र-बल की कमी नहीं है।

रंगनायका के रहस्यपूर्ण प्रश्न निष्फल जा रहे थे। वह सोचने लगी, किस प्रकार इस बुद्धू को समझाया जाय। उसका प्रत्येक वार शून्य में ही भटक रहा था।

इस बार वह कुछ खिसिया कर बोली—"देखिये, प्रत्येक व्यक्ति के सामने दो देवियाँ खड़ी होती हैं—एक तो उपासना के हेतु, मिलन पूजन के हेतु, सुख-दुःख में समान रूप से साथ देनेवाली देवी और दूसरी दिग-दिगंत से बातें करा देने वाली मदिरा देवी। बोलिये, आप कौन-सी चाहते हैं?" कहते-कहते उसने समीप आकर अँगनू के दृढ़ हाथों में अपने कोमल हाथ रख दिये। अँगनू के हाथों में से होकर उसकी सम्पूर्ण देह में एक अजीब-सी सिहरन दौड़ गई—उसे कुछ अजीब-सा लगा।

वह फिर भी मौन ही खड़ा रहा।

अब रंगनायका को सुस्पष्ट कह ना पड़ा—"अँगनू तुम हो कहाँ पर? नहीं समझ पा रहे हो कि रंग देवी तुम्हारे अंग का स्पर्श करना चाहती है। तुम्हारे रहते उसे तड़पना-बिलखना पड़ रहा है। एक वार अपने करों से उसे स्पर्श तो करो। एक अपूर्व सुख-शान्ति अनुभव होगी, वह तुम्हारी है। तुम उसके अवश्य हो जाओ। अपना कोमल कर उसे स्पर्श करने का अमूल्य अवसर प्रदान करो!" भावावेश में आकर रंगनायका ने उसके हाथों को दबा दिया। अब अँगनू समझ गया कि उसे कहाँ लाया गया है। उसने अपने बिखरे-उलझे केशों में हाथ फेरते हुए विवशता-सी प्रकट की। स्वयं को अचेत करने के ढंग बनाये। किंचित भय और लज्जा से मिश्रित उसने अपना हाथ खींच लिया।

रंगनायका ने फिर भी अपने को असफल देख, तत्काल एक काँच के पात्र में सुरा ढाल कर दी। बोली—"अच्छा अतिथि देव! इसे तो स्वीकार कीजिये।"

अँगनू विस्फारित नेत्रों से उसकी ओर देखने लगा। वह बोली—"लीजिये न! इसमें लज्जा और संकोच ही क्या है? यहाँ आनेवाले जितने भी जन हैं उनको पहले यही भेंट किया जाता है।"

"परन्तु यह है क्या ?" अँगनू के अधर-पुट इतनी देर बाद खुले—"आप को भी पीना पड़ेगा साथ-साथ ।"

रंगनायका का विलसित श्रृंगार चमक उठा । उसके नेत्रों में एक अद्भुत ज्योति जगमगा उठी । वह सोचने लगी, उनका प्रयन्त क्या सफल होने जा रहा है ?

तदनन्तर उसने अँगनू को और अधिक आकर्पित करने के विचार से अपनी एक विमोहक अदा छिटकाते हुए कहा—"मैं भी पीती हूँ ।"

उसने द्रव पदार्थ को सुन्दर-पेय ही समझा । अतएव रंगनायका के साथ-साथ एक काला-सा द्रव एक ही श्वाँस में पी गया ।

उसे पेय कुछ मधुर ही लगा ।

रंगनायका बोली—"और लीजिये न ।"

"बस ।"

"तो अब आइये मेरे साथ, आपको कार्य भार सौंप दूँ ।"

अँगनू चुपचाप उठकर उसके साथ हो लिया । रंगनायका कई प्रकोष्ठ, और उपकक्ष पार करने के बाद एक लघु सरोवर के निकट आ पहुँची ।

चलने से अँगनू के नेत्रों में कुछ आलस्य आने लगा था । इसलिये सरोवर के निकट पहुँच कर वहीं शुभ्र प्रस्तर के कटावदार घाट की सीढ़ी पर वह बैठ गया । वह अलसित-तंद्रालु नेत्रों से सरोवर की प्राकृतिक सुषमा को निहारने लगा । धीरे-धीरे उसे झपकी-सी आ गई ।

उसे सरोवर के मध्य में हँसते कमल, उनके चौड़े दल-किसलय, सरोवर का निर्मल जल, सभी कुछ अंगारे के समान प्रतीत होने लगा ।

सहसा उसके कर्ण-कुहरों में किसी के पग-घुँघरुओं की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ी । उसका आलस्य सुनकर कुछ-कुछ भागने लगा । उसका मस्तिष्क कुछ-कुछ ठिकाने आने लगा । ज्यों ही उसने अपने ऊँनींदे नेत्र खोले—वह चौंक गया ।

वह अकेला किसी अज्ञात प्रेमपूर्ण आकांक्षायुक्त अनुभूति का आनन्दानुभव करने लगा था ।

इस जीवन में, इस नवीन मादक में उसे कुछ वेदना और कसक का अनुभव हुआ ।

उसने महीनों प्रेमाग्नि में जल कर उसकी राख छानी थी, उसका हृदय अधजला हो चुका था, उसके यौवन की मस्ती उसे पुनः झझझोर उठी । उसने मदिरा की उपासना जो कर ली थी ! उसी क्षण स्वप्नलोक के संसार में बैठा वह पुकार उठा—"कोई है नहीं क्या यहाँ ? कहाँ गई रंगनायके !"

उसने देखा, एक सजी-सजाई पनिहारिन अपने सिर पर दो पीतकलश धरे उसी की ओर चली आ रही थी । उसके पाँवों की गति से एक मधुर ध्वनि निकल रही थी ।

अँगनू को ऐसा लगा जैसे उसके हृदय-तंत्री के तार स्वयं ही बज उठे हों । उसका रोम-रोम स्वयं ही पुलक उठा ।

घाट पर आते ही घट रख दिया उसने और अँगनू के सम्मुख खड़ी होकर बोली—"मेरे प्रियतम ! मेरे अतिथि ! कैसा लगा मेरा भवन, मेरा सरोवर, मेरी सुरा-सुन्दरी ?"

इतना सुनते ही अँगनू का सम्पूर्ण स्वप्न लोक, सुरा की तन्द्रा, शिथिलता तत्क्षण दूर हो गई । वह एक साथ झल्ला उठा—"ओह ! मुझे अब ज्ञात हुआ, उस समय से तुम क्या रागरंग छिटका रही हो ? आह ! तुमने न जाने कैसा पेय-पदार्थ पिलाया है, मेरा हृदय अग्नि से झुलसा जा रहा है । तुम्हारा यह रूप-सौन्दर्य जाल मुझे असह्य हो रहा है । मुझे अस्वीकृत है तुम्हारा कार्य, तुम्हारी सेवा ! मुझे वहीं पहुँचा दो जहाँ से लिवा लाई हो । शीघ्रता करो । अन्यथा वही दशा तुम्हारी भी होगी जैसी रमनू की !" और वह उन्मत्त-सा इधर-उधर भटकने लगा ।

रंगनायका ने कुछ उत्तेजित होकर कहा—"तुम मिथ्या-भाषण करते हो । मैं सब कुछ समझ गई कि तुम चरित्रहीन हो । मेरी तुच्छ सेवा अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी, वरना. . . !"

"वरना क्या होगा, यह सब मेरी तुच्छ-बुद्धि में आ गया है ।" अँगनू के दाँत मारे क्रोध के किटकिटाने लगे । उसका पारा कुछ तेज हुआ ।

रंगनायका ने उसके आरोह-अवरोह के संसार में सब कुछ अध्ययन कर लिया था। तुरन्त बोली—"बाहर जाना चाहते हो? मेरे फन्दे से निकलना चाहते हो? चलो, आओ मेरे पीछे।"

अँगनू साथ हो लिया। परन्तु वह उस सुन्दरी को और ऐश्वर्य के भटके जीवन को ठुकरा कर कुछ कंपित-सा आगे बढ़ना चाहता था।

सरोवर से तनिक दूर निकल कर वह पुनः कड़क उठा—"तुम नहीं जानतीं रंगनायके, विश्वासघात करना अपना ही अहित करना है।"

इतने में ही एक द्वार आ गया। रंगनायका ने एक आवाज लगाई।

अँगनू ने देखा, दो युवक मूसल से काले-काले, चपटी नाक, अवपकी बड़ी-बड़ी मूछें, कंधे पर लट्ठ धरे आकर उसके सम्मुख खड़े हो गये।

वह बोली—"मीढ़न और चंदू! ले जाओ इस नर-पिचाश को। मैंने इसको समझाने का हर प्रकार से प्रयत्न किया, किन्तु यह न माना।" फिर उसने नेत्रों की पुतलियाँ घुमा कर एक विचित्र संकेत किया। फिर बोली—"समझ गये न सब कुछ! दे दो धक्का इसे मुख्य द्वार से! यह भी क्या याद करेगा, यहाँ आकर आनाकानी करने पर कैसा व्यवहार किया जाता है?"

अब उसको रंगनायका के दुश्चरित्र-होनेका तनिक भी संदेह न रहा। वह सोचने लगा—क्या इस संसार में भोले मनुष्यों को लाकर इसी प्रकार लालच में फँसाया जाता है? उनके चरित्र-बल को धोखा देकर लूटा जाता है! उन्हें पथ-भ्रष्ट करने के लिये अहम् लालच दिया जाता है।

तुरन्त बोला—"पथ-भ्रष्टा मैं सब कुछ समझ गया हूँ! तू मेरे कंठ के स्वर्ण-तावीज का अपहरण कर कब तक जियेगी? मैं नट-बंजर ठहरा, स्मरण रख, तेरा इसी प्रकार सर्वनाश...!"

"चुप कलमुँहे!" रंगनायका ने तुरन्त आदेश दिया—"चंदू! दे दो धक्का इसे? बाहर पड़ा-पड़ा स्वयं ही ठिकाने आ लगेगा।"

सेवकों ने तत्काल आज्ञा का पालन किया।

अँगनू को मुख्य द्वार पर खड़ा कर धक्का दे दिया गया। वह औंधे मुँह गिरते, सम्हलते अचेत हो गया।

अध्याय : १६ :

एक अश्वारोही युवक वृक्षों की छाया का सहारा लेते हुए चला आ रहा था। उसके मुख पर स्वेद कण छलक आये थे चलते-चलते। चलने से मुख की कान्ति भी कुछ मलिन हो गयी थी। उसका सारा शरीर तथा उसका अश्व भी पसीने से लथपथ हो रहा था। परन्तु वह सभी भौतिक व्याधियों से निश्चिन्त अपना अश्व दौड़ाता, मार्ग समाप्त करने पर तुला हुआ था।

राजमार्ग पर कुछ दूर चल कर उसने उस मार्ग को छोड़ दिया और एक ऊबड़-खाबड़ मार्ग की ओर मुड़ा।

मुड़नेवाला मार्ग कुछ ऊँचा-नीचा ढालू था। अतएव उसने अश्व को कुछ धीमा किया।

अश्व कुछ धीरे-धीरे चलने लगा। उस ऊबड़-खाबड़ और सँकरे मार्ग को छोड़ कर ज्योंही अश्व ने समतल मार्ग पर अपना पग धरा अचानक युवक को एक सुमधुर स्वर लहरी सुनाई पड़ी। अश्व पर बैठे ही बैठे उसने अपने सम्मुख दूर तक के मार्ग पर दृष्टि फेंकी। उसे दीख पड़ा, एक सघन वृक्ष के तले कुछ रंग-बिरंगे वस्त्र। उसे पूर्णतः विश्वास हो गया कि यह वीणा झंकृत ध्वनि उसी एकत्रित जन-समुदाय से आ रही है। वह अपना अश्व बढ़ाता ही चला गया। धीरे-धीरे निकट आने पर वह जन-समुदाय स्पष्ट दीखने लगा।

उसने देखा उस वृक्ष के नीचे नारियोंका एक समूह गायन और नृत्य कर रहा है। वृक्ष इतना सुविशाल एवं सघन था कि चिल-चिलाती धूप को उसने अपने सिर पर ही ओढ़ रखा था। धूप की भूली-भटकी रश्मि किसलय दल से छनकर भी न दीख पड़ती थी। नारी समुदाय अपने सामाजिक तौर-तरीके के नृत्य एवं गान में निमग्न था।

गरमी से त्राण पाने के लिये युवक ने अपना घोड़ा भी उस वृक्ष के नीचे उन लोगों से कुछ दूर रोक दिया।

विशाल वृक्ष मार्ग के किनारे पर ही अपने पंख फैलाये था। युवक के आश्चर्य की सीमा न रही वृक्ष की विशालता को देख कर !

कुछ देर वहाँ शान्ति पाने के लिये वह घोड़े से उतर भी पड़ा और सुललित गायन-वादन सुनने लगा। पवन के मन्द झोंकों से ही उद्वेलित हो जाने वाली उस वृक्ष की छाया तले, युवक ने देखा कि, वे स्वर्गीय अप्सरायें, अपनी अपनी विलक्षण छटा को रंग-बिरंगे वस्त्रों में समेटे, रंगीनो [illegible]-झीने सुवासित वस्त्रों में से दीख पड़नेवाले कोमल-श्वेतांगों उजले-चमके पाँवों पर गुलाबी महावर लगाये—उसके स्वागतार्थ नृत्य करने लगीं। वह उस अपूर्व नयनाभिराम दृश्य का मधुर पान करने लगा। वह भूल गया कि उसे किसी आवश्यक राज-कार्य से शीघ्रातिशीघ्र पहुँचना भी है।

धीरे-धीरे नृत्य और गान समाप्त हुआ। वे सब उठ कर जाने लगीं।

अन्त में युवक ने देखा, एक तरुणी कुछ सकुची, लज्जावश अपने मुख पर आड़ किये दोनों हाथों से ढके, बहुमूल्य वस्त्रालंकार एवं आभूषणों से सजी हुई उसकी ओर निर्निमेष देख रही थी।

युवक ने जिज्ञासु न होते हुए भी, युवती के निकट आकर प्रश्न किया—
"क्या था यह सब ?"

"आप नहीं समझे ! सतारा के नगराधीश के गृह में पुत्र-रत्न ने जन्म लिया है, उसी के उपलक्ष्य में कुछ मंगल लोक व्यवहार एवं गीतादि थे।"

"और तुम क्यों रह गईं अकेले ?"

"यों ही—आपके घोड़े को निहारने लगी थी। कितना मोटा-ताजा छरीला बदन है !" उसने गिरते-पड़ते नेत्रों से युवक को निहारा !

युवक के हृदय में एक प्रकार की खलबली-सी मच गई। उसका असाधारण व्यक्तित्व हिल उठा। उसके शरीर में एक अजीब-सी सिहरन दौड़ गई। जो न कभी मची न जगी ! उसे तरुणी के चमके नेत्र कुछ अच्छे ही लगे। किन्तु बाहर से वह निर्लिप्त रहा। युवती उस पर मुग्ध-सी होकर, स्वर्ग प्राप्ति का सुख अनुभव करती पुनः बोली—"क्या आप कहीं के राजा हैं ?"

"नहीं तो ! सेवक कहीं राजा भी हो सकता है !" युवक का उत्तर था।

"फिर यह राजाओं का सा वेष, यह खड्ग, यह सुन्दर अश्व—इन सबकी क्या आवश्यकता ?"

युवक बड़े असमंजस तथा धर्म-संकट में पड़ गया। उसे सूझ ही नहीं पड़ा कि इसका क्या उत्तर दे ?

वह तरुणी के अपूर्व साहस को चकित-सा निहारने लगा।

युवती ने उत्तर की प्रतीक्षा में अपने पैरों पर लगे महावर की लाली पर नेत्र गड़ा लिये। कुछ ही देर में उसने पुनः साहस कर पूछा—आपका शुभ नाम क्या है ?"

"मेरा।" वह अपना परिचय देना नहीं चाहता था। उसके मुख पर प्रताप का उजेला, उत्थान की लाली, असाधारण व्यक्तित्व सब एक साथ उस युवती के सुन्दर-माधुर्य शब्दों में खो गये। वह कुछ उलझा-सा बोला—"सेवक को अपनी आत्म-रक्षा के लिये यह सब बाँध कर चलना पड़ता है।"

"मैं आपसे सम्बोधन-संज्ञा पूछना चाहती हूँ। सेवक-स्वामी के शब्द तो शून्य में भटक गये।"

युवक ताड़ गया कि इस साहस की प्रतिमूर्ति से असत्य भाषण करने से काम न चलेगा। वह उसके सौंदर्य पर मुग्ध हो उठा। उसने न चाहते हुए भी उत्तर दिया—"मुझे... हरदौल कहते हैं। श्रीमन् ओरछा नरेश भक्त-वत्सल जुझारसिंह का अनुज !"

"ओह ! आप ही हैं श्री हरदौल सिंह ! नाम सुन कर भी देख न पायी थी। वीरोचित सम्बन्धी कथायें सुन कर भी मौन रही। अच्छा ! क्षमा ही कीजिये, इस पतिता को।" उसने एक गम्भीर निःश्वास छोड़ी।

वह सब कुछ भूल गई थी। उसे वार्तालाप में यह भी ध्यान न रहा कि उसके साथ की सहेलियाँ पर्याप्त दूर निकल चुकी हैं। समाज की नारियों को इस प्रकार स्वतंत्र भाषण करना इन दिनों कत्तई बुरा समझा जाता है।

वह यौवन सुन्दरी, यौवन मदिरा से सराबोर, प्रेम-महोदधि से लिपटी, युवक के उन्नत ललाट को लालच भरी नजर से निहारने लगी।

हरदौल सिंह ने कहा—"तुम स्वयं ही अपने शब्दों से क्षम्य हो। मेरे शब्दों में इतनी शक्ति कहाँ जो साहस की प्रतिमूर्ति को क्षमा प्रदान कर सकूँ।"

यकायक हरदौल को अपने आवश्यक कार्य का ध्यान आया। उन्हें तो शीघ्र चौरागढ़ पहुँचना था।

बोले—"अरे! तुम यहीं खड़ी रह गई, तुम्हारे साथ की सब स्त्रियाँ तो जा चुकीं!"

"तो क्या हुआ—मैं भी चली जाऊँगी। आप जल्दी ही अपना मार्ग पकड़िये?"

हरदौल अश्व पर सवार होते हुए बोले—"क्षमा करना देवी! मैंने तुम्हारा बहुमूल्य समय नष्ट किया है।"

"आण्डाल का समय नष्ट नहीं हुआ, आपका!" उसने कुछ इस ढंग से उत्तर दिया कि उसके नीचे का लाल होंठ चमक गया।

हरदौल का अश्व अपने स्वामी को पीठ पर सवार देख आगे बढ़ने के लिये व्यग्र होने लगा।

उन्होंने और अधिक रुकना उचित न समझा। वह इच्छा होते हुए भी आण्डाल को उसके भवन तक पहुँचाने का साहस न कर सके। अनन्तर उन्होंने घोड़े की लगाम ढीली कर दी। घोड़ा उनको लिये उड़ चला। कुछ ही दूर आगे बढ़े होंगे कि पीछे मुड़ कर देखा—एक क्षीण रेखा धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी।

:o: :o: :o:

सतारा नगर से प्रस्थान कर हरदौल ने चौरागढ़ के मुख्य द्वार में प्रवेश किया। द्वार-रक्षक से उन्होंने पूछ लिया कि, राव साहब इस समय कहाँ हैं।

अस्तु, वह सीधे द्वाररक्षक के कथनानुसार राजभवन में आ उपस्थित हुए।

इस समय जुझारसिंह उपस्थित मंत्रियों से कुछ आवश्यक परामर्श कर रहे थे। हरदौल को देखते ही उनका प्रसंग बंद हो गया। अनुज ने रीति-अनुसार सादर अभिवादन किया, फिर चरण स्पर्श किये और क ओर बैठ गये।

जुझारसिंह ने पूर्व प्रसंग को वहीं स्थगित कर अनज से पूछा--"कहो, ओरछा में सब कुशल तो है न ?"

"जी महाराज, राजनगर में सब कुशल ही है," और उन्होंने राजसभा में बैठे-ही-बैठे सभी सभासदों, मंत्रियों आदि पर दृष्टि दौड़ाई। बोले—"किन्तु आपको विदित ही है कि नगर आन्तरिक शान्ति से पूर्ण है, पर बाह्य दृष्टि से नगर आज भी असुरक्षित है। मैं आपसे यह परामर्श करने आया था कि यदि कोई ओरछा पर खुल कर आक्रमण कर बैठे तो उस दशा में क्या करना होगा ?"

जुझारसिंह क्षण भर के लिये विचारों में डूब गये। बोले—"मैं समझ नहीं पाया तुम्हारे इस कथन को।"

"प्रश्न यह है कि मुगल-सम्राट् के पूर्ण आश्वासन देने पर और उनका एक सरिश्तेदार चौरागढ़ में उपस्थित रहने पर भी, नित्य-प्रति छोटे-बड़े गुप्त आक्रमण ओरछा पर होते हैं। आज किसी ग्राम को शाही सैनिकों की लूट-मार से आक्रान्त होना पड़ता है तो कल दूसरे को। ऐसी स्थिति में सामाजिक-व्यवस्था तो संकट से ग्रस्त है ही, राजनैतिक जीवन में भी कठिनाइयाँ आने लगीं हैं। मेरी समझ में यह महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय विषय है।"

ओरछापति गम्भीरता से विचारने लगे। उनके मुख पर गहन भाव के रेखाओं को देख सभी सचिवोंने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा—"हमारी समझ से सरिश्तेदार को ओरछा में ही रखना उचित हैं। क्योंकि इससे ओरछा की राजनीति को आत्मबल मिलेगा। दूसरे अन्यान्य लोगों की पैनी दृष्टि भी लगी रहेगी। उस पर साथ-साथ नियंत्रण भी गुप्त रूप से कठोर कर दिया जाय।

दीवान जी ने कहा—"मेरी समझ से ओरछा जाकर यह समझ लिया जाय कि वास्तविक स्थिति क्या है ?"

प्रबन्ध मंत्री ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा—"राजनैतिक दृष्टि से हमें वही कार्य करना चाहिए जिससे संधि भी बनी रहे और सद्भावना भी। असावधानी से अपनी ही हानि होती है।" जुझारसिंह सानुज शान्तिपूर्वक बैठे सबके विचार ध्यानपूर्वक सुन रहे थे।

अन्त में गंभीरतापूर्वक वे बोले—"इस समय संदिग्ध-असंदिग्ध का सवाल नहीं। राज्य और उसकी प्रतिष्ठा का प्रश्न है। इसलिए यही उचित है कि यदि किसी प्रकार की आपत्ति ओरछा पर आती है तो उसकी हर प्रकार से रक्षा की जाय। चाहे उस समय प्राणार्पण ही क्यों न करना पड़े।" कुछ देर बाद उन्होंने फिर कहा—"फिर भी यदि कूटनैतिक दृष्टि से सरिश्तेदार को ओरछा में रहने दिया जाय तो उससे मुगल सल्तनत की नीति अधिक स्पष्ट रहेगी। यदि विश्वासघात ही हुआ तो मैं पुनः बुला-कर उसकी उचित व्यवस्था करूँगा।"

दूसरे दिन हरदौलसिंह सरिश्तेदार हिदायत खाँ सहित ओरछा की ओर लौट पड़े।

@

अध्याय : १७ :

एक दिन शशिबाला राजगढ़ के अन्त:पुर में बैठी कुछ सहेलियों से बातें कर रही थी। उसके मुख पर यौवन सम्पन्नता के निखार के साथ-साथ कोई अज्ञात मनोवेदना की भावना स्पष्ट परिलक्षित हो रही थी। उसके हृदय में आज रह-रह कर अपनी प्रेम भरी वीती स्मृति जग रही थी। और उन्हीं भावों में डूबे हुए उसने कुछ ही क्षण पूर्व एक मधुर गीत गाया था।

सहेली मृदुला ने उससे कहा—"शशिबाला, क्या तुम उसी संगीत को पुन: छेड़ने का कष्ट करोगी ?"

शशि कुछ न बोली। वह मृदुला के नेत्रों में खोजने लगी कि, अपना वह सुख-स्वप्न, वे सभी रातें, वे सुखद घड़ियाँ, मस्ताना जीवन जो विलीन हो गया था। और उन घड़ियों के अन्धकार को दूर करनेवाली, अपने प्रियतम—रमनू—की याद भी कहीं खो गई थी। अपना सौन्दर्य एवं अंतर्हित वैभव उसे मृदुला की आँखों में नाचता-सा दीखा। उसने एक शीतल नि:श्वास छोड़ते हुए उत्तर दिया—"तुम्हारा यह बालकों का सा स्वभाव अभी मिटा नहीं। किसी बात के पीछे पड़ने का अर्थ है तुम उसे भलती ही नहीं। गीत नहीं, हाँ, उसका अर्थ अवश्य बतला सकती हूँ।"

"वही वता ो।" दूसरी सखी संगिला बोल पड़ी।

शशिबाला कहने लगी—"पता नही क्यों जब मैं चारु-चाँद की शीतलता की ओर देखती हूँ तो ऐसा ज्ञात होता है कि चली जा रही हूँ। मलय-पवन का झोंका मेरे लिये विष तुल्य लगता है। फलते-फूलते पुष्प मुझे अश्रुपात करते से दृष्टिगत होते हैं। यह सव सोच, देख कर मेरा हृदय व्याकुल हो उठता है।"

"वस्तुतः तुम्हारा गीत कितना मोहक, कितना आकर्षक होगा ! अच्छा सुनाओ। गीत तो बहुत लम्बा था !" मृदुला बोली—"ऐसा लगता है कि तुम्हारे हृदय में मादक भाव छिपे हैं और वहां संगीत के साकार-अर्थ बहे चले जा रहे हैं। क्या तुम्हारे नेत्र किसी से...!"

शशिबाला का साधारण मृदुल स्वभाव रवि-रश्मि की भांति खिल उठा। उसे लगा कि उसका आशा प्रदीप अभी बुझा नहीं है। उसके हृदय साम्राज्य पर व्यवस्थित भाव अभी हरे ही हैं। क्या मृदुला के प्रश्न को व्यक्त कर देने से उसका लाभ होगा ? क्या उसका बिछुड़ा प्रेमी इसी श्री-सम्पन्नता के साम्राज्य में आकर उसका आलिंगन कर सकेगा—और तब दोनों राजा-रानी की संज्ञा से भूषित हो सकेंगे ?

सलज्ज शशिबाला से प्रकट करते नहीं बना। वस्तुतः इस नियति-चक्र में कहीं उसका भी प्रेमी है। कभी उसने भी प्यार किया था। एक वर्ष बीतने को आया उसकी अधूरी साधना पूर्ण न हो सकी। स्मृति की एक क्षीण-रेखा-सी मन में बनी रह गयी। किन्तु यह दबी-बुझी प्रेमाग्नि वह कैसे प्रज्वलित करे ? क्या यह बात रानी कुँवर-बाला तक फिर, महाराज तक; और फिर उनके श्रीमुख से हरदौल के कानों में नहीं पड़ेगी ? सभी उसको राजरानी बनाने की सोच रहे हैं। हरदौल उसका वैवाहिक सम्बन्ध विन्ध्य-प्रदेशीय किसी राजघराने से चला रहे हैं। फिर यह क्यों कर सम्पन्न होगा। यह कैसे उचित रहेगा कि राजकुल की कन्या एक दिन भिक्षुक की बने ? आज शशिबाला बंजरी नहीं महल की रानी बनने जा रही थी। इसी विचारधारा में डूबती-उतराती वह 'हाँ' 'ना' का उत्तर न दे सकी।

कुछ देर मौन रह कर मृदुला ने मुस्कुराते हुए पुनः कहा—"मुझे तुम्हारी मुखाकृति से झलक रहा है, कि तुमने अवश्य प्रेम किया है; और आज उसी विरह की स्मृति ने तुम्हारे मुख पर उसकी एक रेखा खींच दी है।"

"ऐसा सोचो पर...!" शशि कुछ कहते-कहते रुक गई। उसका मुख लज्जा से आरक्त हो उठा। परन्तु कल्पना उसके सम्मुख कुछ क्षण के लिये नाच उठी। मृदुला व्यवहार को अपनी धारणा के विपरीत देख कर उसे अत्यधिक आश्चर्य होने लगा।

कुछ विचार विनिमय की मुद्रा में वह बोली—"बात यह है कि वह क्षण ही, वह प्रेमविन्दु ही विलक्षण होता है जब नेत्रके कोरों पर रख कर हृदय-वस्तु तौली जाती है। ऐसा क्यों हो जाता है, इसका उत्तर तो मैं नहीं दे सकती—पर हाँ, इतना अवश्य कह सकती हूँ कि चाहे कोई कितना भी विद्वान्, और संयमी क्यों न हो किन्तु रूप-सौन्दर्य और गुणके सामने उसके माया जाल में स्वयमेव ही खिंचना पड़ता है।

मृदुला और संगिला शशिबाला की गहन-रहस्यपूर्ण विचार भावना का अनुभव हृदय की गहराई तक कर रही थीं। शशिबाला इतना कह कर शान्त हो गयी।

मृदुला ने उसमें उत्साह का पुट भरते हुए आगे कहा—"बहिन, जो कुछ भी तुम्हारे मन में है उसमें सफलता अवश्य मिलेगी। यदि उसका रहस्योद्घाटन अक्षरशः सत्य हो तब।"

शशि का मुख आशापूर्ण पूर्व स्मृति की छाया से आकर्षक बनने लगा, और वर्षों की शान्त तपस्या के बाद अब शशिबाला को निराश घोर अन्धकार में आशा ज्योति की प्रभा रेखा दिखायी पड़ी, उसकी इच्छा हुई कि क्यों न अपनी करुण कहानी इन सहेलियों के सामने खोल कर रख दी जाय।

छिन्न-भिन्न हृदय को बटोरते हुए वह बोली—"किन्तु सफलता मिलती तो उस समय है जब कुछ आशापूर्ण चिह्नों का आभास मिलता है। और जिसकी वर्षों की कठिन तपस्या शान्त हो चुकी हो—उसकी सफलता की भी कोई आशा है?"

"अवश्य है।" संगिला ने उत्तर दिया—"यदि उस सफलता की कुन्जी दूसरे के हाथ में सौंप दी जाय। हृदय में ही छिपाये रखने से, किसी प्रकार का संकोच करने से, सफलता-विफलता का निर्णय स्वयं ही कर लेने से तो उसका उपाय नहीं खोजा जा सकता।"

"शशिबाला की प्रणय-स्मृति खंड-खंड हो कर बिखर चुकी थी। परन्तु मानव स्वभावानुसार वह बिखरी ध्वनि कभी-कभी उसके

कानों में आ टकराती थी। हर प्रकार की वैभव-सम्पन्नता में रम कर भी वह एक प्रकार की न्यूनता का अनुभव करती थी।

वह शान्तिपूर्वक मंगिला के शब्दों को सुन कर सोचने लगी, क्या अपने प्रेमी की कथा प्रकट कर देने से एक बार पुनः प्रेम-सागर में गोते लगाने का अवसर मिल सकेगा? प्रेमाग्नि में शरद-चन्द्र की-सी शीतलता आ सकेगी क्या? उसके स्वप्न-लोक में विचरता हुआ उसका सजनू उसे पुनः मिल सकेगा? कदाचित् मृदुला और मंगिला ही इसका कोई अच्छा-सा मार्ग खोजें! और इन्हीं उलझनों में फँसी शशि ने अपने हृदय में वर्षों से बँधी प्रणय-गाँठ को दोनों सहेलियों के सम्मुख खोल दिया।

:o: :o: :o:

रानी कुँवरबाला का अत्यधिक स्नेह प्राप्त था शशि को। वह उसे त्यागने में असमर्थ थी। उनके सम्पूर्ण स्नेह और सौहार्द की अधिकारिणी यदि कोई थी तो शशि। वह नित्य नवीन प्रसाधनों को उपस्थित कर उनका मनोरंजन किया करती। उसी प्रकार शशि के जीवन पर भी रानी की साधुता और भगवत-भक्ति का अच्छा-खासा प्रभाव पड़ने लगा था। शशि के सौन्दर्य-माधुर्यमय रूप को देख कर और रानी के मातृ-तुल्य स्नेह को परख कर कोई भूल से भी नहीं कह सकता था कि शशि एक नट-बंजरी के वर्ग से आई है।

यद्यपि शशि के हृदय पर माँ-बाप और भाई की एक मीठी-सी स्मृति कभी-कभी अंकित हो जाती थी। किन्तु नित्य के सत-शिक्षा संग के प्रभाव ने उसके मानस में धैर्य और साहस की जड़ जमा दी थी। इस प्रकार स्वतः ही अतीत के कौटुम्बिक-चित्रों का शमन हो जाता था।

आज वह कुछ म्लान-मुख दीख रही थी। रानी उसके सम्मुख बैठीं ईश्वरोपासना के गूढ़ तत्त्वों को समझा रही थीं।

सहसा गढ़महालय के दक्षिण से दोनो के कानों में एक मधुर गीत सुनाई पड़ा। शशि ने रानी की आज्ञा से उसे निकट से सुनने का आग्रह

किया। रानी स्वयं ही उसके साथ छत पर होती हुई महालय के अन्तिम मन्दिर तक जा पहुँची। यहाँ से राजनगर का प्रत्येक मार्ग सुस्पष्ट दृष्टिगत होता था। अतएव मार्ग पर होनेवाला प्रत्येक कार्य बड़ी आसानी से देखा जा सकता था।

दोनों ने मार्ग की ओर नीचे दृष्टि दौड़ाई—देखा, एक अंधा भिक्षुक मार्ग को लाठी से टटोलता दर्द भरी आवाज़ में गाता हुआ जा रहा था—

अंधे की झोली भर बाबा।
कुछ तो भला अब कर बाबा॥

वह सूरदास अपने टटे-फूटे लय में गाता हुआ धीरे-धीरे चलता जा रहा था।

शशि को गीत बड़ा मधुर लगा। उसके हृदय की कली खिल उठी। बोली—"माँ जी, गीत तो बड़ा मोहक है। ईश्वर ने इसको कितना सुरीला कंठ प्रदान किया है। क्या यह यो हीं गाता रहेगा?"

"यह भी खेद का विषय है।" रानी ने शशि के नेत्रों में झाँकते हुए कहा।

शशि ने उसी ओर पुनः नज़र उठा कर देखा, और उसके मुख से निकला—"हे ईश्वर!"

"क्यों? क्या हुआ?" रानी ने शंकित हो पूछा।

"अरे! आपने नहीं देखा माँ जी। वह देखिये, बेचारा चलते-चलते ठोकर खा कर गिर पड़ा। किन्तु फिर भी उसके मुख से संगीत की लय नहीं टूटी।

"हाँ बेटी, ईश्वर दुखी को ही दुःख देता है, परन्तु सुना है इसमें भी उसका भला निहित है।" शशि सुन कर चुप हो गई।

इस तरह वह भिक्षुक गाता हुआ दूर निकल गया। ज्यों-ज्यों अन्धा भिक्षुक दूर जाता गया, शशि के हृदयगत भाव उसके मधुर गीत में रमते गये। वह दुखित हृदय से बोली—"माँ, इस प्रकार का जीवन भी क्या, जो कहने को तो सुखी-सम्पन्न है परन्तु पावों में बेड़ियाँ जकड़ी हैं, मुँह पर

ताले लगे हुए हैं। आखिर, कितना सुखी है वह चक्षुहीन भिक्षुक ! दरिद्र होते हुए भी मस्त दीखता है !"

"ठीक कहती है शशि तू—बिल्कुल सत्य ही !" और वहाँ निःस्तब्धता छा गई। शशि वहीं खड़ी थी शान्त। रानी कुँवरबाला के समीप, उनके सम्मुख, कुछ चिन्तित-सी, म्लान-सी।

रानी ने शशि की यह दशा देख पूछा—"शशि इन दिनों मैं तुझे अधिक गम्भीर पा रही हूँ। तेरे मन में जो कुछ दुःख हो प्रकट क्यों नहीं कर देती बेटी ? ऐसा कौन-सा दुःख है तेरा जो दूर नहीं किया जा सकता ?"

शशि ने उत्तर दिया—"कुछ तो नहीं माँ, मुझे काहे का दुःख, कैसा दुःख ?"

"फिर तेरा मुख कुम्हलाया क्यों रहता है ?"

"कुछ नहीं। मुझे जरा अपने विगत जीवन की याद आ गई थी।"

"बस, इतनी-सी बात पर इतनी मलिनता !" रानी का मुख कुछ और ही कहने को खुला था पर बोलीं—

"यह बात तो नहीं है बेटी, इस अवस्था में सभी के मन पर स्वाभाविक ही गम्भीरता-सी आने लगती है। सभी तुझ से अत्यधिक प्यार करने लगे हैं. . .और मैंने राव जी के कान में भी तो यह बात डाल दी है।"

"क्या बात माँ जी ?"

"वह कुछ नहीं—यही कि तेरा. . ." और उन्होंने उसके गाल पर एक हल्की-सी चपत जड़ दी।

शशि कुछ न बोली। लजा गई और समझ भी गई सब कुछ। फिर दोनों उठ कर वहाँ से चल दीं।

●

अध्याय : १८ :

किसी समय चाची के पूर्वजों ने एक ग्राम में कुछ बीघे भूमि खरीदनी चाही। भूमि अधिक तो नहीं थी पर सस्ती कीमत में मिलने के कारण उन्होंने हाथों हाथ उसे क्रय करनेका बयाना दे दिया था। अँगनू का परिवार अपनी ईमानदारी एवं सच्चरित्रता के कारण बस्ती भर में सुविख्यात था। और उन दिनों इस परिवार के स्वर्णिम—सुखद दिवस व्यतीत हो रहे थे। कुश्ती, बरछी-भाले आदि—सभी में वे अग्रगण्य थे। फलतः अन्य परिवारों का साहस अँगनू के पूर्वजों से विरोध लेने का नहीं होता था।

इसके विपरीत चाची के पूर्वज किसी भी रूप में उस भूमि को अपने अधिकार में करने पर तुल गये।

विधवा ने इस विपत्ति से बचने के लिए अँगनू के पूर्वजों का आश्रय लिया। विधवा की करुण कहानी सुन कर अँगनू के दादा दुग्गन लाल के तन में आग लग गई। यह कैसे सम्भव था कि उनके जीवित रहते बस्ती में अत्याचार हो? एक अनाथा की भूमि ठीकरों के मोल बिक जाय। वे यह सहन न कर सके। एक दिन दुग्गन लाल ने विधवा की सम्पत्ति का उचित मूल्य चुका कर भूमि को अपने अधिकार में ले लिया।

चाची के पूर्वज जल उठे। परन्तु इतना साहस किसमें था कि सिंह की माँद में जाकर अपना हाथ दे। अव्वल दर्जे के वीर थे दुग्गनलाल!

परिणामतः चाची के पूर्वजों ने न्याय-पंचायतें बिठायीं। यह कौन सा न्याय कि पहिले बयाना दे देने पर भी दुग्गन लाल ने जबरदस्ती उसी भूमि का क्रय किया? भलमनसाहत तो उस समय थी कि जब बस्ती का एक व्यक्ति भूमि खरीद रहा था, आप न बोलते। जब एक वस्तु बिक चुकी तो उसको जबरदस्ती लेनेवाले दुग्गन लाल कौन? आदि प्रश्न पंचों के सामने रखे गये।

दिन पर दिन और समय पर समय बीतता चला गया। फिर इस तरह कई वर्ष भी निकल गये, परन्तु दोनों परिवारों के बीच एक काली रेखा गहरी होती चली आयी। मनोमालिन्य एक के बाद दूसरे के हृदय में, रक्त से रक्त में बढ़ता गया। उसी वैमनस्य का प्रतिशोध चाची ने अँगनू से लिया। वह हार माननेवाली स्त्रियों में से न थी।

:o: :o: :o:

नगर की ओर गये अँगनू को एक सप्ताह होने आया। उसके लौटने का कहीं चिह्न तक न था। उसका बूढ़ा बाप राह देखते-देखते थक गया। उसके आँखों की ज्योति क्षीण पड़ने लगी।

सुरजो भी प्रतिदिन चोरी-छिपे एक-दो चक्कर अवश्य लगा जाती, अँगनू के विषय में पूँछ जाती। परन्तु वह वृद्ध पिता के नेत्रों में शंका-आशंकाओं के उमड़े आँसू देख कर द्रवित हो उठती। उसे बूढ़े पर बड़ी दया आती, बड़ा तरस आता, परन्तु अवश थी। उससे न रहा जाता था, जी वहाँ एक क्षण को न लगता; और बिना कुछ कहे-सुने ही भाग जाती।

बूढ़ा सोचता और रह जाता। अन्ततः नगर में जाये भी तो कहाँ ? इतना बड़ा नगर—उसे कौन पूँछेगा ?

और इस सप्ताह के अन्तिम दिवस की संध्या तक बूढ़े ने उसकी बाट जोही। अनन्तर अपनी कुटिया को हर प्रकार से सुरक्षित कर वह दीपक जलते न जलते, नगर की ओर लाठी कंधे पर रख कर चल दिया।

मार्ग चलते-चलते हठात् ही साँय-साँय करते हुए अन्धकार में उसे एक व्यक्ति की परछाईं सी दृष्टिगोचर हुई। उसे लगा कि परछाई उसका पीछा कर रही है। परन्तु वह निःशंक हो आगे बढ़ता रहा। उसने सोचा— होगा कोई, उसे क्या ?

कुछ दूर चल कर परछाईं की आकृति कुछ विशाल-सी प्रतीत हुई। हृदय में भयांकुर जमते ही उसके मुख से निकला—"कौन है ?"

उत्तर मौन था। बूढ़े का प्रश्न शून्य में ही भटक कर रह गया। वह हृदयगत शंका समझ कर चुप हो गया और आगे बढ़ने लगा।

वह सोचने लगा, कारण क्या है ? यदि पुरुष होता, कोई पंथी होता, तो अवश्य बोलता। किन्तु यह छाया...? वह हृदय में भाँति-भाँति की शंकायें जगाये, बुझाये बढ़ने लगा। उसने एक पगडंडी छोड़ दूसरी पकड़ी। सहसा उसके मुख से एक करुणामयी ध्वनि-चीत्कार फूटी और अंधकार में विलीन हो गई !

एक लाठी उसके सिर पर पड़ी। आह ! उसने गिरते-गिरते अपने मुख से पुकारा—"बेटा अँगनू !" फिर उसका पार्थिव-शरीर लुढ़क गया।

दूसरे ही क्षण उसकी आत्मा अमर हो गई।

अध्याय : १६ :

आँख खुलते ही अँगनू ने अपने आप को एक लोहे के पलंग पर पड़े पाया। उसने उठने के लिये प्रयत्न किया, किन्तु असहनीय पीड़ा से वह कराह उठा। उसे याद आया कि रंगनायिका के कारण ही उसकी यह गति हुई हैं; और इस समय भी वह उसके रंग-भवन में है।

वह ज्यों का त्यों पड़ा रहा। फिर उसने कक्ष में चारों ओर दृष्टि डाली। उसे वहाँ का वातावरण अति ही कमनीय प्रतीत हुआ। विभिन्न प्रकार की विलासमय वस्तुओं से कक्ष सुसज्जित था। उसे वह विलास-मय जीवन, रंगनायिका की शक्ल-सूरत, सब कुछ घृणित प्रतीत होने लगा। वह चकित-चौकन्ना हो, विस्फारित नेत्रों से कक्ष की शोभा को कुछ देर निहारता रहा। फिर सोचने लगा, हे प्रभु ! यह जीवन और वह जीवन !" उसे पड़े-पड़े कभी अपने जीवन, बप्पा जी के जीवन और फिर प्राणप्यारी सुरजो के जीवन की घटनायें याद आने लगीं।

इसी बीच रंगनायिका दो तरुण-नारियों सहित उसी के कक्ष में एक अन्य बिछे पलंग पर आकर बैठ गई। अंगनू एक बार गौर से सभी के विलास-आशंकित नेत्रों को देखा और फिर अपनी आँखें बन्द किये पड़ा रहा—चुपचाप।

कुछ क्षण बाद ही, रंगनायिका साथ की तरुणियों से बातें करने लगी।

एक तरुणी बोली—"आज तो हम सुन कर ही मानेंगे। प्रतिदिन टाल दिया करती हो।"

"कल सुना दूँगी," रंगनायिका ने उत्तर दिया।

इन दिनों मेरा मन कुछ अशान्त-सा रहने लगा है। बिल्लो ! मैं इस विलासमय जीवन से, अपने देह का व्यापार करने से, छुटकारा पाना चाहती हूँ।" उसने प्रसंग बदलना चाहा।

"ऐ है ! चली हैं चौधराइन बनने ?" बिल्लो अपने बड़े-बड़े कजरारे नेत्रों को चमकाती, बाहों की अदा दिखाती, अपनी उजली धूप-छाँह की आकर्षक साड़ी की चमक को छिटकाती बोली—"काहे को दिमाग में कीड़े बिलबिला रहे हैं। ठोकरे खाते-खाते मर जाओगी। तरस उठोगी मनचले नवयुवकों के दर्शन को! कहाँ रखे हैं यह मसाले ? किसी निगोड़े के पल्ले पड़ गई तो उस कलमुँहे के जूते खाते-खाते मर जाओगी।"

"ठीक ही तो कह रही हो बिल्लो।" रंगनायिका ने अनुमोदन करते हुए कहा। उसका कृत्रिम उपकरणों से सना-पुता मुख जैसे एक साथ फूल कर कुप्पा हो गया। बात उस की उसी की रुचि के अनुकूल थी।

"कुछ भी न मिले रत्ना, मुझे सब कुछ स्वीकृत होगा। जब से मैंने इस तरुण का अंग-स्पर्श किया है, उसकी सच्चरित्रता को, उसके दृढ़ संयम को परखा है, सच कहती हूँ बिल्लो, मेरा मन उसी क्षण से फिर गया है। अब तो इच्छा होती है...।"

"ओ हो ! अब संसार काहे को टिक पायेगा, जब बिल्लियाँ भी पुजारिन बनने की सोचने लगीं।" रत्ना ने नाक-भौं चमका कर एक मूक इशारा प्रदर्शित किया, जिससे द्वेष की स्पष्ट गंध जग उठी।

ठीक तो है इसी कारण आजकल रंगनायिका कुछ अनमनी-सी दीखने लगी है। रत्ना का हृदय अँगनू के प्रति विद्रोहात्मक अग्नि से भभक उठा। वह सोचने लगी, क्या अँगनू के सर्वनाश की सामग्री भी जुटानी पड़ेगी ? परन्तु वह एक साथ किसी बात की प्रतिक्रिया उपस्थित करने-वालों में से न थी। अतएव वाक्पटु रत्ना ने कुछ और ही ढंग से बोल कर कार्य-सिद्ध करना चाहा। बोली—"ऐसा न कहो बहन ! रंगनायिके, तुम्हारी बदौलत तो दो रोटियाँ हमें भी मिल रही हैं, फिर हमें कौन पूछेगा !" "यह ठीक है।" रंगनायिका ने तर्क किया—"किन्तु उस जीवन में भी रोटियों के लाले नहीं हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि शान्तमय जीवन का जो भी रूखा-सूखा शुष्क भोजन मिलेगा, वह मुझे सहर्ष स्वीकार होगा।"

अँगनू अब भी चुपचाप पड़ा-पड़ा, झीनी रेशमी चादर से मुख ढँके, रंगनायिका और उसकी सहेलियों की बातें सुन रहा था। वह बहुत धीमे-धीमे श्वास ले रहा था। उसे भय था, कहीं उसे जागृत अवस्था में समझ कर इस समय भी उसके साथ उसी प्रकार का व्यवहार न किया जाय। उसे आश्चर्य हो रहा था यहाँ की सौन्दर्य-नगरी को देख कर। झीनी चादर से मुख ढाँपे, नेत्रों को सटाये वह रंगनायिका, रत्ना, बिल्लो तथा अन्य उपस्थित नारियों की सुन्दरता, उनकी वेशभूषा, उनके रत्नाभूषण, उनके हाव-भावों को देख-देख कर चकित होने लगा। क्या इतनी सम्पन्ना होती हैं यह भ्रष्टा, कुल्टा नारियाँ ? इनके विभिन्न प्रकार के हीरे-मोती व रत्नालंकार, इनके आकर्षक रंग-बिरंगे रेशमी वस्त्र, इनके रूप-सौन्दर्य को द्विगुणित करते स्वर्णालंकारों की अद्वितीय, अवर्णनीय चमक-दमक ! हे प्रभु ! क्या पुरुषों की गाढ़ी कमाई सब ओर से एकत्रित होकर इन्हीं को मिल जाती है ? उसने चपला-विद्युत की चमक को देखा था। उसकी तरंगों में उठनेवाली अजीब तड़पन के दृश्य का अवलोकन भी किया था। किन्तु ये नयनाभिराम मुख, इनकी सोज्ज्वल देह, ये विद्युत से भी अधिक प्रकाशवान वस्त्रालंकार, वह नहीं समझ पा रहा था कि कुबेर की धन-सम्पत्ति कहाँ से इनके पास आ सिमटी !

अपने चारों ओर चकाचौंध-सी उस आभामयी, चमक-चाँदनी की ओर वह कुछ आकृष्ट हुआ, किन्तु तत्क्षण ही उसके अन्तर में एक अपूर्व ज्योति जगी और वह पूर्ववत् सुन्दर रत्नों से जगमग कौशेय वस्त्रों पर दृष्टि गड़ाता सिकुड़ा-सिमटा, अपने पर झुँझलाया। विस्फारित नेत्रों से उन लोगों की ओर घूरने लगा। अन्त में उसे अपने सम्बन्ध की चर्चा सुनाई पड़ी।

वे सब अब भी बातें कर रही थीं।

"तो सुन कर ही चैन लोगी।" रंगनायिका ने फिर पूछा। उसने अपने नेत्र रत्ना की ओर लगा दिये और कहने लगी—"बचपन में मेरे रूप-सौन्दर्य के कारण सभी मुझे नायके कहते थे। मैं कैसे कहूँ, उस समय मेरा रंग स्वर्ण के सदृश्य तपा हुआ था। मेरे माता-पिता का मेरी बाल्या

वस्था में ही देहान्त हो चुका था। मैं अपने मामा के घर चली आई और उसी परिवार में रहने लगी। उस मकान से सटा एक और घर था। उस मकान में देवतुल्य तरुण मंगलसिंह नामक युवक रहता था। मैं उस पर कुछ मुग्ध हो गई। उसका वर्ण गौर और शरीर स्वस्थ था।

'इस प्रकार मैं अनेक बार उसके घर आई-गई। वह भी आने-जाने लगा। समय-समय पर हँसी-ठिठोली भी हो जाती थी। एक दिन सन्ध्या समय वह छत पर व्यायाम करने में व्यस्त था। इस संसार से निश्चिन्त, अपने रंग-ढंग में डूबा हुआ। मैं भी उस दिन छत पर आयी थी। सहसा मेरी दृष्टि उस पर पड़ी। मैं मन में सोचने लगी—क्या पुरुष में इतना सौन्दर्य, इतना सौष्ठव, इतना मादकमय आकर्षण होता है। मैं सब कुछ भूल कर निर्मिमेष नेत्रों से मंगलसिंह के सौन्दर्य का पान करने लगी।

"एक क्षण के लिए मैं मंगलसिंह का अलौकिक, सुगठित अंगोंवाला शरीर और उसके रतनारे नैनों को देख आत्म-विस्मृत हो गई। व्यायाम समाप्त कर वह इधर-उधर टहलने लगा; और टहलते-टहलते उसकी दृष्टि मुझ पर आ पड़ी।

उसके मुख से अनायास निकला—"अहा! तुम हो!! क्या कर रही हो? कब से खड़ी हो?" "और मैं उसको अपनी ओर आते देख खिल उठी। कुछ दिन यों ही सोने-का-सा दिन कटा। धीरे-धीरे दो वर्ष और निकल गये। एक दिन उसने मुझसे भाग चलने का प्रस्ताव रखा। मैं उसकी रूप रसमाती—चंचल आँखों की प्यासी जो ठहरी, बात स्वीकार कर ली। मामा-मामी से छिप कर हम उसी रात्रि को भाग निकले और इस नगर में आकर ठहरे।"

कथा कुछ लम्बी थी। किन्तु रंगनायिका के कहने, उसके हाव-भाव प्रदर्शित करने के ढङ्ग से श्रोता नारियों को बड़ा आनन्द आ रहा था। इतना ही नहीं—अँगनू को रंगनायिका की कहानी बड़ी सरस, बड़ी मधुर लगने लगी। उसकी इच्छा सम्पूर्ण घटना सुनने को व्याकुल हो उठी। उसे चिन्ता नहीं रही अपने श्रान्त, वेदना पूरित शरीर की।

वह सोचने लगा—अवश्य इन नारियों के भी हृदय हैं। वस्तुतः इन सब का जीवन किसी न किसी पाषाण से टकरा कर चूर-चूर हुआ है। और रंगनायिका—उसके भाव तो अब अँगनू के प्रति कुछ बदल से चले हैं।

"फिर क्या हुआ बहिन ?" रत्ना ने पूछा।

"अब कल सुनाऊँगी।" रंगनायिका का हृदय किसी अज्ञात भय से व्याकुल होने लगा। रत्ना बोली—"देखा बिल्लो ! यह मुआ कैसा पड़ा-पड़ा मधुर-निद्रा में बेहोश है। इसे है अपने तन-मन की कहीं चिन्ता ?"

"खबरदार ! ऐसा न कहो रत्ना ! वह एक समझदार-संयमी व्यक्ति है। इसकी इसी निश्चिंतता ने ही तो मेरे अंदर काया-कल्प का रंग घोल दिया है !"

"ओ हो ! यह राज है। तभी उसकी प्रशंसा करते नहीं थक रही थीं।" बिल्लो बोली—"मुझे संदेह हो रहा है कि अंगनूसिंह ही तो पुराना मंगलसिंह नहीं है और...।"

"होगा बिल्लो ! तू फिर बहक गई ? कथा तो हो जाने दे सम्पूर्ण !" रत्ना ने कहा।

"भूली ! मैं भूली !!" बिल्लो बोली—"फिर क्या हुआ सुना दो रंगनायिके।"

"फिर !" रंगनायिका ने दोनों की आँखों में झाँका। उसे लगा कि बिना पूरी कथा कहे इन से पिण्ड छूटना संभव नहीं है। वह, एक दीर्घ निश्वास छोड़ कर कहने लगी—"हम दोनों प्रेम के प्रथम उन्माद में नियति-चक्रको विस्तृत कर बैठे। एक दिन अर्धरात्रि के समय मंगलसिंह ने मेरे सारे अलंकार-आभूषण, जो मैं अपने साथ लायी थी, बटोर लिये और मुझे सोता छोड़ न जाने कहाँ चला गया। जब मेरे नेत्र खुले तो प्रति-दिन की भाँति मंगलसिंह को न पाकर मेरा हृदय धक् से हो गया ! मैंने संध्या तक उसकी प्रतीक्षा की। फिर दूसरे दिन सुबह तक। इसी प्रकार दिन पर दिन बीतते गये, पर वह न आया। मैं समझ गई उसे मुझसे नहीं,

मेरे धन से प्यार था। उस समय भी मुझे रह-रह कर मंगल की प्रेम भरी बातें सताने लगीं। फिर मैं बैठी-बैठी अपने प्रारब्ध पर आँसू बहाया करती। सोचती, किस मुँह से अपने मामा के घर जाऊँ। मेरा सतीत्व लुट चुका था। मैं अवश थी, जल से बाहर तड़पनेवाली मीन की तरह। अन्त में मैंने उसी भवन में रह कर जीवन बिताने का निश्चय कर लिया।

"दोपहर का समय था। सहसा एक पुरुष वहाँ आ उपस्थित हुआ। उसके हाथ में कृपाण थी। उसने आते ही मुझे डराना-धमकाना शुरू कर दिया। मैं उस परिस्थिति को न समझ सकी। आज भी मैं कह सकती हूँ कि ऐसे नर-पिशाचों की कमी नहीं है जो भोली अबलाओं को डरा-धमका कर उनके जीवन को सदा के लिये पंक में झोंक देते हैं।

"फलान्तर जिस दशा में आज हूँ तुम लोगों के सम्मुख हूँ। मैं अवश थी, करती क्या?

:o: :o: :o:

धर्म और संस्कृति का मार्ग गहन और विशद है। सीधासादा मनुष्य उसमें भटके बिना नहीं रहता। पुण्य एवं पाप की गुत्थियाँ देव-गण भी पूर्णतः न सुलझा पाये तो साधारण मनुष्य की स्थिति ही क्या है? उस पर कौतूहलपूर्ण दृष्टि के सन्मुख तो उसके आकर्षण की ओर स्वर्ण पट गिरे विना रहता ही नहीं। हाँ, यदि संयम का सच्चा समर्पण कर दिया जाय तो सफलता अवश्य मिलती है, चाहे बाधाओं की भीत पर भीत आकर खड़ी हो जाय!

रंगनायिका की कथा सुनते-सुनते पता नहीं कब अँगनू की आँख लग गई। जब उसकी आँख खुली तो उसने अनिन्द्य-सुन्दरी रंगनायिका को अपने सन्मुख खड़े पाया।

वह मधुर मुस्कान बिखेरती हुई उसके समीप बैठ गई। उसी निद्रा-अनिद्रा के भावावेश में अँगनू घबड़ा कर उठ बैठा। उसके नेत्रों के सन्मुख इस समय भी पूर्व दिवस का दृश्य नृत्य कर रहा था। देखते ही रंगनायिका

फूट पड़ी—"घबराओ नहीं तरुण-साधक, रंगनायिका को उसके पूर्व व्यवहार के लिये क्षमा-दान प्रदान करो और सत्य के दर्शन कराओ ?"

अँगनू के मुख पर अब भी एक विकलता की छाप थी। वह आर्त स्वर में क्रन्दन कर उठा—

"रंगनायिका, क्या तुम बिल्कुल सच कह रही हो ? वस्तुतः तुम्हें इस नारकीय जीवन से घृणा हो चली है क्या ? फिर इसके लिये तो बड़ी तपस्या करनी होगी।"

"करूँगी !" रंगनायिका के मोती-नीलम से जड़ित कर्णफूल, एक साथ हिल उठे। वह उससे चिर-परिचित की भाँति बातें करने को उद्यत हुई—"क्या मैं इस गन्दे वातावरण से बाहर हो सकूँगी ?"

"अवश्य होंगे। मुझे इतनी समझ तो नहीं है, निरा गँवार ठहरा। परन्तु मैं दो-चार दिन सुरजो के साथ ज्ञानी जी के प्रवचन सुनने अवश्य गया था, उन्होंने जो कुछ...।"

"सुरजो कौन ?" रंगनायिका बीच में ही पूछ बैठी।

"यह भी बता दूँगा।" उसने रंगनायका को समझाने का प्रयत्न किया। पूछा—"रंगनायिका, क्या यह संसार सत्य-वस्तु नहीं ?"

"बड़े भोले हो ! यदि मुझे इतना ज्ञान होता तो इस जीवन के दुःख क्यों झेलती ?"

"फिर कौन-सा सुख चाहती हो ?"

"सुख-दुःख तो सृष्टि का अनन्त क्रम है। वह तो मैं इस जीवन में ही पा रही हूँ और तुम भी ... !

बताओ, इससे भी उच्च जीवन की सत्यता कहाँ मिलेगी ?"

रंगनायिका के मन पर उसकी वेदना प्रतिबिम्बित होने लगी। उसका हृदय करुणा से आर्द्र हो उठा। वह उसके और समीप खिसक आयी। अँगनू का हृदय विश्वास से भरने लगा था। उसे उसका सट कर बैठना बुरा न लगा।

रंगनायिका ने फिर कहा—"मैं क्या जानूं ! मैं तो स्वयं उस सत्यता को देखना चाहती हूँ जो मुझे सन्मार्ग पर स्वमेव ला सके।"

"यह भी कोई कठिन कार्य है ! उसे इस जगती के कण-कण में पाओगी। अपने नेत्रों को खोल कर देखो। वह उन झोपड़ियों में है जहाँ दिन भर का थका श्रमिक छन-छन कर आती चन्द्रमा की किरणों में अपनी क्लान्ति मिटाता है। जहाँ श्रम-विन्दु तपती-दोपहरी में अन्न के दाने उत्पन्न करते हैं : जहाँ माँ के लाल अपनी भाग्य-रेखा स्वयं बनाते हैं !"

रंगनायिका को उसकी वाक्पटुता पर आश्चर्य हो रहा था। एक बंजर-मानव ने कहाँ से पा लीं यह सुन्दर-सरसपूर्ण बातें ! आश्चर्यान्वित हो बोली—"मिल गयी मुझे मेरी वस्तु ! मुझे अब किसी की आवश्यकता नहीं। मैं इसी मार्ग पर चल कर श्रम की साधना करूँगी !"

अँगनू ने देखा—रंगनायका एकाएक काँप उठी। उसका कंठ रुँध गया और नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये। और वह अचानक मूर्च्छित हो उसके पावों में गिर पड़ी।

अध्याय : २० :

नारी—[illegible] की कोमलतम छवि है, जिसमें [illegible] की सरसता, [illegible] एक हो गई है। उसके अंतर में सत्य-असत्य का कुछ ऐसा भंडार है जिसे प्राप्त करने में पुरुष सभी अच्छे-बुरे कार्य कर बैठता है। उसकी हर चितवन में, उसके पग-पग पर स्नेह का दीपक जलता है, सौंदर्य की आंधी छिन कर चलती है। यदि वह [illegible] कोमल रमणी है, तो माया की रहस्यमयी कुलटा भी है। भला या बुरा, अत्याचारी या न्यायी, तिरस्कृत, सम्मानित हर प्रकार के लोगों को उसने परखा है।

प्रारम्भिक रूप तो इतना भयंकर होता है उसका कि पुरुष यदि उसकी चपेट में आ गया तो अपना अस्तित्व ही खो देता है। किन्तु यदि बच गया तो वह उसकी सदा के लिये चेरी बन जाती है और तब उसके सम्मुख जाति-पाँति समाज आदि की शृंखलायें कुछ महत्त्व नहीं रखतीं।

रंगनायिका के जीवन पर अँगनू के संयम और दृढ़ता का पूर्ण प्रभाव पड़ा था। और अँगनू भी उस अनिन्द्य सुन्दरी के उज्ज्वल व्यवहार का उपासक बन गया। क्रोध का स्थान श्रद्धा ने ले लिया। उसका हृदय-प्रसून सुख की लालसा से खिल उठा। वह उसे अपनी ही समझ उसके यहाँ रहने लगा। शनैः शनैः रंगनायिका के हृदय में उसने अपना स्थान बना लिया।

दोनों एक-दूसरे से खूब परिचित हो गये। कुछ दिन बाद रंगनायिका ने अपना कुत्सित तथा घृणित जीवन त्याग दिया और अपनी बनवायी धर्मशाला के दुमंजिले पर एक प्रतिष्ठित जीवन यापन करने लगी।

प्रातः और संध्या दोनों ही समय वह ईश्वर का चिन्तन करती, और शेष समय पढ़ने-लिखने में बिता देती। अँगनू भी उसके साथ-साथ

अध्ययन करने लगा था। उसमें शहरी सभ्यता के आसार दिखाई देने लगे।

रंगनायिका के हृदय में श्रम-सत्य वस्तु को पाने की अग्नि सुलग चुकी थी। अस्तु उसने अपने समस्त घृणित व्यवसाय से कमाई हुई वस्तुओं को गरीबों को यहीं बाँट दिया।

एक दिन संध्याकाश का चारु-चन्द्र नीरव वृक्ष पत्तियों से झाँक रहा था। दिन भर के कोलाहल से थकी आँखें कुछ-कुछ लग गई थीं। इसी समय रंगनायिका अपनी पंथशाला के दुमंजिले की चौड़ी छत पर बैठी चन्द्रमा की अनुपम छटा निहार रही थी। अँगनू उसके समीप एक बिछे आसन पर समीप ही बैठा था। धीमा-धीमा दीप-शिखा का प्रकाश रंगनायिका के उत्थान-पतन की गाथा गाता हुआ टिमटिमा रहा था। रंगनायिका की दृष्टि चारु-चन्द्र के काले धब्बे पर टिकी हुई थी।

अनायास उसके मुख से फूट पड़ा—"अँगनू! मेरे हृदय में अद्‌भुत संतोष की लहर तो दौड़ गई, पर क्या ये काले धब्बे भी धुल सकेंगे?"

अँगनू उसके प्रश्न पर चौंक उठा। वह अधिक तो नहीं समझ सका, परन्तु उस का प्रश्न उचित ही लगा। उसने अपनी वुद्धि अनुसार उत्तर दिया—"इसका भी उपाय है।"

"तब भी वह मुझे समझा दो साधक!" रंगनायिका बोली।

"इस के लिये तुम्हें विगत घृणित जीवन को भूल जाना होगा।" उसने अपनी समझ से इस तर्क को उसके सामने रखा।

"किन्तु इतने दिनों की कुत्सित, घृणित जीवन की स्मृति कैसे मन से भुलाई जा सकती है?" यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण था।

इस वार अँगनू की समझ में न आ सका कि उसे और अधिक कैसे स्पष्ट करे। कुछ देर मौन रहने के उपरान्त वह फिर कहा—"दिन भर अपने को किसी कार्य में व्यस्त रखो। अवश्य ही शान्ति मिलेगी।"

"उचित ही कहते हो तुम। बात अत्यन्त सरल है; किंतु मैं कुछ सोच ही नहीं पा रही थी।" और वह उठ कर शयन-कक्ष की ओर चल दी।

अँगनू वहीं बैठा-बैठा रंगनायिका के साथ अभी-अभी हुए वार्तालाप के बारे में सोचने लगा।

:o: :o: :o:

इसी प्रकार अँगनू को रंगनायिका की पंथशाला में रहते महीनों बीत गये। अब उसे अपने पेट की चिन्ता नहीं रही थी, परन्तु याद आ रही थी तो अपनी सुरजो की—अपने बड़े बप्पा जी की।

वह सोचने लगता, ये दिन तो उसके स्वर्णिम दिवस हैं फिर क्यों न अपनायेगा, नट-बंजर समाज उसे। धन का लोभी-समाज! वह हर प्रकार का प्रयत्न करेगा समाज की पगुता, उसकी परम्परागत-रूढ़ि-वादिता को दूर करने का। रमनू भैया से क्षमा की भीख माँगने के लिये वह प्रस्तुत है ही। परन्तु उसके सम्मुख एक समस्या नग्न-नर्तन कर रही थी वह रंगनायिकासे कैसे कहे कि मैं अपनी बस्ती को थोड़े समय के लिये जाना चाहता हूँ। जो एक क्षण भी उसे अपने नेत्रों से ओझल होने नही देना चाहती, जिसका सब कुछ अँगनू ही हो। वह क्यों कर सहज में ही उसकी बात मानने लगी। वह रंगनायिका के साथ विश्वासघात करना भी नहीं चाहता था। उसने चोरी-छिपे कार्य करना अपने समाज से सीखा ही नहीं था। वह इसी उधेड़-बुन में उलझा-सुलझा पंथशाला के ऊपरी प्रकोष्ठ में बैठा विचार-मग्न था।

सहसा जैसे ही उसकी अपनी दृष्टि एक छाया पर पड़ी उसने देखा—रंगनायिका उसके प्रकोष्ठ-द्वार पर खड़ी मुस्करा रही है। उसको अपनी ही ओर देखते देख वह उठ खड़ा हुआ।

रंगनायिका ने उससे पूर्ववत् बैठ ही रहने का आग्रह करते हुए कहा—"साधक! मुझे यदि भोग-जीवन में ही रहना पड़ता तो पता नहीं आगे चल कर मेरी क्या दशा होती?"

"दशा क्या होती?" अँगनू ने उसके मनाशय को समझते हुए उत्तर दिया—"कामना का विस्तार होता, चित्त मोह जाल में उलझा रहता; और

दिन रात नाना प्रकार की चिन्ता-ज्वालाओं से जलता रहता। चाहे ऊपर से प्रसन्न ही बनी रहतीं।"

"उचित ही है तुम्हारा उत्तर साधक! ईश्वर की मुझ पर बड़ी कृपा हुई जो उन्होंने अनायास और बिना माँगे जीवन को सफल बनाने का सुअवसर दे दिया है। पशु की भाँति इन्द्रिय भोगों में लिप्त न रहने से यह जीवन कितना सुखद और सन्तोषमय है। भगवान् ने मुझ डूबती को उबार लिया। धन्य है उनकी कृपा को। शत-शत प्रणाम है।"

"यह बात नहीं है रंगनायिके। मुझे तो ज्ञानी जी ने यह बताया है कि उनकी मंगलमयता और कृपालुता समस्त जीवों पर सदा बरसती रहती है। हम अपनी नासमझी के कारण इन्द्रिय-सुख में चिपट कर उसे आनन्दमय समझते हैं। उसी जीवन को जीवन समझते हैं। वस्तुतः यह सब है मिथ्या ही!"

"अहा! कितने उज्ज्वल विचार हैं तुम्हारे। हे ईश्वर! अकारण ही आपने मेरी सांसारिक झंझटों को, विषयों में फँसाने वाले सब साधनों को हटा कर मुझे सहज ही अपनी ओर खींच लिया है। मैंने आज प्रातःकाल के ईश्वर मनन में यह स्पष्ट देख लिया है कि समस्त सुखों के भण्डार एकमात्र श्री भगवान् ही हैं। धन्य है! अब तो बस मैं उन्हीं का चिन्तन और मनन करूँगी। उन्हीं के नाम को सदा जपूँगी, जिससे बचा हुआ जीवन सार्थक बने।"

"तो फिर भगवान् इस पंथशाला में स्वयं वास करने लगेंगे।"

"सच! मुझे नहीं ज्ञात था कि मैले-कुचैले वस्त्रों में लिप्त इतना ऊँचा ज्ञान भरा पड़ा है।"

"तुम्हें ही नहीं रंगनायिके! मुझे अपने पर भी आश्चर्य हो रहा है कि न जाने कैसी ऊट-पटाँग बातें बता कर मैंने तुम्हारा मन फेर दिया।' इस प्रकार दोनों विचार-विमर्श कर चुप हो गये।

अँगनू का मन फिर घर की ओर जा लगा। बोला—"रंगनायिके! मेरा मन इन दिनों अपनी बस्ती में भटक रहा है। इच्छा है वहाँ का समाचार

भी एक वार जाकर देख आऊँ। यदि तुम्हारी राय हो तो हो आऊँ। शीघ्र ही लौट आऊँगा।"

रंगनायिका अँगनू के स्वभाव से खूब परिचित हो चुकी थी।

बोली—"किन्तु साधक तुम्हारी अनुपस्थिति में रंगनायिका के पापमय जीवन का पथ-प्रदर्शन कौन करेगा?"

"पथ-प्रदर्शक बना कर मुझे और लज्जित न करो रंगनायिके! यह मूर्ख वंजर-नट क्या किसी का सुधार कर सकता है? हाँ, तुम्हारे साथ रहने से मेरा जीवन अवश्य सुधर गया है। ईश्वर तुम्हें अपने मंगलमय विधान में सदा उलझाये रखे। मैं शीघ्र ही वापस आ जाऊँगा!"

"यदि आज्ञा दो तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूँ।"

"व्यर्थ में कष्ट उठाओगी।" कुछ देर शान्त रह कर वह बोला—"जहाँ तक बन पड़ेगा मैं एक हो दो दिन में लौट आऊँगा।"

रंगनायिका ने अपना सिर झुका लिया। उसका हृदय जिसकी खोज में बेचैन हुआ था उसे वरदान रूप में पा लिया था, छोड़ने में असमर्थ हो रही थी। परन्तु वह अधिक आग्रह न कर सकी।

दूसरे दिन अँगनू रंगनायिका को पंथशाला में अकेली छोड़ कर अपनी बस्ती की ओर चल दिया।

❂

अध्याय : २१ :

आज दो दिन से शशि अस्वस्थ हो गई है । उसकी चिकित्सा के लिए आये हुए राजवैद्य और राजकुल से सम्बन्धित अत्तार आदि उसकी शैय्या के चारों ओर बैठे हैं । सभी लोग उसके निदान के विचार विमर्श में लगे हुए हैं । इनके अतिरिक्त और लोग ईश्वर की प्रार्थना भी कर रहे हैं । परन्तु शशि को अभी तक कोई लाभ न था ।

शशि ने आँखें न खोलीं । इस दशा को देख कर हरदौल सिंह का हृदय दुखने लगा । वह मौन सशंकित नेत्र से शशि की शैय्या से कुछ दूर खड़े होकर उसकी ओर चिन्तित से देख रहे थे । एकाएक उन्हें कुछ ध्यान आया और वहाँ से अश्वशाला आकर सेवक से अपने घोड़े को लाने के लिये कहा ।

देखते-ही देखते अश्व उनके सम्मुख सजा-सजाया आ उपस्थित हुआ । वे तुरन्त उसकी पीठ पर सवार हुए और विश्वमती देवी के गुफा-मन्दिर की ओर उसका मुख मोड़ लिया । गढ़ महालय से कोई पाँच मील दूर पश्चिम में यह गुफा-मन्दिर था । हरदौल जब कभी अत्यधिक दुःखी होते तो इसी मन्दिर में आकर विश्वमती देवी का सहारा लिया करते थे ।

गुफा-मन्दिर तक जाने का मार्ग बहुत बीहड़ था । ऊँची-नीची पहाड़ियों को पार कर वहाँ पहुँचना होता था । इतना होने पर भी उनके हृदय में विश्वमती देवी के प्रति जो सच्ची श्रद्धा थी, उसने उन्हें विमुख न होने दिया ।

गुफा-द्वार के समीप ही वन्य-पशुओं एवं लुटेरोंका अड्डा भी था । कहते हैं कि विश्वमती की गुफा में जाने वाला कोई भी दर्शक यात्री आज तक वापस न लौटा । परन्तु हरदौल सिंह के लिये कुछ न था। वह यहाँ कई बार आये और गये थे । उन्हें आज तक कोई लुटेरा-डाकू नहीं मिला था। लोग उनके अदम्य साहस को देख कर दाँतों तले ऊँगली दबाते । वह अकेले ही गुफा द्वार पर आ पहुँचे । घोड़ा एक वृक्ष के साये में बाँध दिया ।

सहसा उनके कानों में एक आवाज सुनाई दी ।

"कौन हो ? इधर कहाँ जा रहे हो ?"

उन्होंने पीछे फिरकर देखने की चेष्टा की । देखा चार मनुष्य उनकी ओर बढ़े आ रहे हैं । उनके हाथों में नग्न खड्ग थे । हरदौल सिंह व्यर्थ के झंझट में न पड़ देवी तक पहुँचना चाहते थे ।

अत: बगैर उनलोगों को देखे आगे बढ़े ।

"रुक जाओ ?" उन लोगों ने फिर कहा ।

हरदौल सिंह ने देखा उनके सामने चार लुटेरे खड़े थे । उस समय उन्होंने विवेक से काम लेना ही उचित समझा बोले—"भाई, मुझे क्यों रोकते हो ? मैं तो विश्वमती के दर्शन हेतु मन्दिर में जा रहा हूँ ।" लुटेरों ने ऊपर से नीचे तक हरदौल सिंह को अच्छी तरह परखा ।

एक बोला—"क्या तुम्हें यह नहीं पता कि यहाँ लुटेरों और वन्य-पशुओं का आवास है ?'

"पता था !" हरदौल अपने खड्ग की मूँठ पर हाथ रख कर नम्र शब्दों में कहने लगे—"पर मैंने विचारा कि लुटेरे भी तो हमारी ही तरह आदमी हैं । मैं श्रद्धा-पुष्प अर्पण कर कुछ माँगने जा रहा हूँ । कोई भी व्यक्ति चाहे कितना भी निम्न श्रेणी का क्यों न हो, दर्शनार्थ जानेवाले को तो नहीं ही रोकता । उनमें भी पाप और पुण्य समझने की ज्ञान-शक्ति होती है । हाँ यदि वन्य-पशुओं के सम्बन्ध में कहा जाय तो उचित है, क्योंकि उनके पास हम जैसी ज्ञान-शक्ति नहीं होती । यदि वे कुछ अनुचित करते हैं तो क्षम्य ही हैं क्योंकि वे पशु ठहरे ।"

हरदौल के पवित्र एवं नम्रतापूर्वक कहे गये वाक्यों में पाहन तक को पिघला देने की शक्ति थी । कौन था जो इन सुन्दरतम शब्दों को सुन कर प्रभावित न होता !

लुटेरे उनके सद्विचार को देख उनके सामने नत हो गये । और वे लोग भी उनके साथ विश्वमती के दर्शनार्थ साथ हो लिये ।

:o: :o: :o:

मन्दिर के द्वार पर पहुँच कर उन्होंने देखा कि अन्दर पूर्ण अन्धकार था । कोई दस कदम अन्दर चले होंगे कि हरदौल सिंह का पाँव किसी तरल-पदार्थ

से भीग उठा । लुटेरों में से एक ने प्रकाश किया । हरदौल सिंह रुधिर के चिह्न देख कर स्तम्भित रह गये । उन्होंने लुटेरों की ओर करुण दृष्टि से देखा बस ।

उनमें से एक उनका आशय समझते हुए बोला—"यहाँ हम हर चतुर्थी को देवी के चरणों पर एक बलि चढ़ाते हैं । और आज भी चढ़ा कर बाहर निकले थे । हम समझते हैं देवी इससे शक्ति देती है, धन देती है ।"

यह सुन कर हरदौल के हृदय में एक ठेस-सी लगी । किन्तु उन्होंने तत्क्षण प्रश्न किया—"तुमने कभी देवी के दर्शन किये हैं ?"

"हम सब वहाँ तक नहीं पहुँच पाये ।" चारों ने एक साथ उत्तर दिया ।

"चलो आज हम देवी के पूर्ण दर्शन करायेंगे ।"

लुटेरे कुछ भी बोल न सके । उन्हें आश्चर्य हो रहा था हरदौल के साहस पर । कोई पचास पग और आगे चलने पर उन्हें देवी की दिव्य मूर्ति दिखाई दी । उन्होंने देखा—उस अन्धकार में भी देवी के मुख पर दिव्यता थी, ज्योति थी । पता नहीं किधर से प्रकाश छन-छन कर उनकी दिव्य मूर्ति पर पड़ रहा था । सहसा उनकी दृष्टि देवी की दिव्य मूर्ति के सम्मुख पद्मासन लगाये, नतमुख किये एक युवती पर पड़ी । उसके वस्त्रों का रंग पीत-लालिमा पर था । किन्तु वह मौन चित्र-खचित-सी कर-बद्ध आराधना में लीन थी ।

चारों जन आश्चर्य-चकित हो देवी के सन्मुख मन्त्र-मुग्ध-से खड़े हो गये; और पाँचवें हरदौल भी ।

लुटेरों से हरदौल ने कहा—"देख रहे हो देवी की पवित्र ज्योतिमयी मूर्ति को ? कर लो मन भर के दर्शन !"

"देख रहे हैं महाराज !" सभी के मुख से फूट पड़ा—"देवी, हमारे पूर्व कर्मों पर ध्यान न देकर क्षमा ही कीजियो ।"

परन्तु हरदौल के हृदय में दर्शन करते समय उस पत्थर की प्रतिमा से चीख-चीख कर कुछ पूछने की इच्छा बलवती हो रही थी ।

फिर उन्होंने पूछ ही लिया—"माँ, यदि तुम सचमुच माँ हो तो फिर यह कैसा अनर्थ कि तुम स्वयं अपने ही बच्चों का रक्त पीती हो ?" परन्तु

मूर्ति भला क्या उत्तर देती ? वह तो पत्थर की थी—पत्थर ही बनी रही। यह बात और है कि हमारे अपने ही अन्तर की भवनाओं के प्रतिबिम्ब-स्वरूप उस प्रतिमा के मुख पर कभी व्यंग्यपूर्ण मुस्कराहट और कभी कठोरता के भाव झलक आये हों।

तरुणी अभी तक ज्यों की त्यों नतमस्तक रही। आह ! कितनी श्रद्धा थी उसके हृदय में ! वह पुनः बोले—"माँ, हम मानव कितने पतित हैं जो पाषाण की ओट में अपनी लिप्सा की तृप्ति के लिये साधन जुटाते हैं। भोले, मूक और निःसहाय पशुओं की गर्दन पर छुरी चला कर अपना कार्य सिद्ध करना चाहते हैं। और तुम सब कुछ देख लेती हो, सह लेती हो—शान्त और चुपचाप !" अब चारों लुटेरे सब कुछ समझ गये। देवी के दर्शन करते-करते वह हरदौल के चरणों पर गिर पड़े।

हरदौल ने देखा—उन सबकी तलवारें दूर पड़ी थीं। उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी।

उन्होंने एक-एक कर चारों को उठा कर हृदय से लगा लिया। बोले—"इसमें तुम्हारा दोष नहीं, तुम्हारे संस्कार का है। इस माँ के चरणों में मस्तक नवा दो, यही तुम्हें सुबुद्धि प्रदान करेंगी।"

"धन्य महाराज !"

फिर गुफा में अन्धकार छा गया। देवी ज्यों की त्यों रहीं। वह ज्योति अदृश्य हो चुकी थी। लुटेरों के सरदार ने अपने साथी से प्रकाश जलाने को कहा, और जैसे ही अग्नि का प्रकाश उस गुफा में छिटका, बढ़ा, वैसे ही हरदौल चौंक पड़े।

उनका मुख आश्चर्य से खुला ही रह गया। उन्होंने देखा—आण्डाल उनके सामने खड़ी थी।

उसने हरदौल को पहिचानते हुए कहा—"समझ नहीं पाये शायद मेरे देवता, मैं कौन हूँ ?"

हरदौल फिर भी चकित से उसकी ओर देख रहे थे।

आण्डाल फिर बोली—"महाराज को कुछ शंका हो रही है। मैं ही बता दूँ कि मैं...!"

"नहीं।" हरदौल बोले—"समझ लिया !

आण्डाल ही तो हो। सतारा के मार्ग में मैंने...।"

"जी महाराज वही—सतारा के नगराधीश के मंगल-गीत के समय..."

"किन्तु यहाँ कैसे ?"

"अपने देवता के दर्शन को आयी थी।"

"इतनी दूर ! पर यहाँ तो देवी का पुण्य स्थान है, यहाँ देवता कहाँ ?"

"मेरे देवता मेरे सन्मुख खड़े हैं। क्या आपको नहीं दीखते ?"

चारों लुटेरे इस नाटक को बड़े आश्चर्य-चकित हो देख रहे थे। उनको यह समझते देर न लगी कि यह तरुण-कन्या हरदौल की पूर्व परिचिता है।

हरदौल ने आण्डाल की ओर देखते हुए, फिर बोले—"मुझे तो कहीं नहीं दीखते।"

वह उनके चरणों पर गिर पड़ी और बोली ये रहे मेरे देवता।

उन्होंने बड़े स्नेह से उसे उठाते हुए कहा—"तुम कब से आने लगीं विश्त्रमती माँ के दर्शनार्थ ?"

"मैं ! प्रत्येक सोम को माँ के दर्शनार्थ आती हूँ ; परन्तु उस दिन से मैं अपने देवता के दर्शन न कर पायी। आज पा लिया है मैंने अपना विभु ! अब तो अवश्य अपनी कुटी पर ले जाऊँगी !"

"आऊँगा एक दिन !"

"कब ?"

"बड़ी धूम-धाम से। पर एक वचन मुझे इस समय देना होगा। बोलो, दोगी ?"

"कहिये।"

"आज के लिये क्षमा करोगी। देवी से एक वर माँगने आया था, वह मिल चुका। अब अति शीघ्र गढ़ में लौटना है।"

आण्डाल कुछ न बोली। उसका हृदय प्रसन्न भी हुआ और दुखी भी। हरदौल ने उसकी मौनता का अर्थ स्वीकृति ही समझा। फिर सब लोग बाहर निकल आये।

लुटेरों ने हरदौल का परिचय प्राप्त कर उनकी सच्ची श्रद्धा पर हर्ष प्रकट किया। चारों लुटेरों ने हरदौल के सामन इस निकृष्ट कर्म को छोड़ने की प्रतिज्ञा की और चल दिये। हरदौल आण्डाल के अत्यधिक आग्रह करने पर उसे कुछ दूर तक छोड़ने गये। वापस लौटने पर आज पहिली बार उनके नेत्र भीग गये थे।

:o: :o: :o:

हरदौल जब गढ़ लौटे तो संध्या हो चुकी थी। उन्हें अपने पर कुछ क्रोध हो आया कि शशि की चिन्ता तक को भुला दिया। इस पर पश्चाताप भी हो रहा था। परन्तु उन्हें संतोष था कि उन्होंने सच्ची श्रद्धा से देवी का आह्वान किया है। शशि अवश्य अच्छी हो गयी होगी।

शशि की रुग्ण-शैया के समीप पहुँच कर उनके आश्चर्य की सीमा न रही, जब उन्होंने देखा कि वह भौजी-माँ से बातें कर रही है। उसके मुख पर एक चमक-सी आ गई है। उसकी शिथिलता, मलिनता सब दूर हो गई है।

उनको देखते ही शशि बोली—"भाई जी ! आप कहाँ रहे इतनी देर तक ? सभी आपको पूछ रहे थे।"

"मैं अपनी शशि को अच्छी करने की औषधि लेने गया था।"

"लाइये, कहाँ है वह औषधि ! जिसे खाकर मैं ठीक हो जाऊँ।"

"अरे ! तुझे नहीं मिली। तू खा भी चुकी और ठीक भी है मेरे सामने।"

शशि मुस्करा दी।

समीप ही विराजित रानी कुँवरबाला को भी हँसी आ गई।

वस्तुतः हरदौल की पूजा-अर्चना का फल था जो शशि को स्वस्थता प्रदान हुई थी।

अध्याय : २२ :

हरदौल आण्डाल को उसके भवन-द्वार पर छोड़ कर लौट आये थे। मार्ग नें कुछ वंश सम्बन्धी वातें भी हुईं परन्तु खुल कर नहीं। हरदौल ने उससे हर समय अपनी हृदयगत भावों को छिपाये ही रखा। फलतः वह उनकी मनःस्थिति को समझ ही न पाई। परन्तु जब से वह गुफा-मन्दिर से लौट कर आयी, उसके नेत्र आँसू से भरे ही दीखते। वह कुछ खोयी-खोयी सी रहती।

इस समय वह दुमंजिले के खुले प्राङ्गण में खड़ी हरदौल के जाने-वाले मार्ग को निहार रही थी—जैसे दूर जाते मृग को देख कान खड़ी कर मृगी निहारती है।

और मार्ग—वह दूर तक सीधा चला गया था किनारे के हरे-भरे वृक्षों की छाया में होकर। वह सोचने लगी, इसी मार्ग से तो लौट कर आवेंगे मेरे देवता! परसों ही तो कह गये हैं लौटने को—दर्शन देने को! क्या है, काट लूंगी यों ही दो दिवस।

वह उसी दिन से प्रिय के लौटने की प्रतीक्षा कर रही थी। सोचते-सोचते मस्तक पर स्वेद कण छलक आये थे। उसी दिन से खाँसी से उसकी नासिका सूख गयी थे। चंचल नेत्र स्थिर थे। फिर वह कुछ थकावट अनुभव कर कक्ष में लौटी; और अनायास खड़ी ही खड़ी पलंग पर गिर पड़ी। उसके कंठ का मुक्ताहार झटके से टूट कर बिखर गया—जैसे पुष्प की पंखुड़ियाँ विखर कर पृथक्-पृथक् हो जाती हैं।

पलंग पर वह तिरछी पड़ी थी। कुछ अस्त-व्यस्त होकर। तभी किसी नारी का पद-चाप उसे सुनाई पड़ा। पलंग से उठ कर तन-बदन की सुध भूली-सी, वह कक्ष के वाहर दौड़ी, परन्तु उसने अपनी बुआ जी को अपनी ओर आते देखा।

बुआ जी भी वहीं से उसे देख बोलीं—"भोजन कर ले बेटी, कल से कुछ खाया-पिया नहीं है। क्या हो गया है तुझे ?"

"आज भी भूख नहीं है बुआ जी। मैं इस वक्त न खाऊँगी।

और वह लौट गई। बुआ भी उसके पीछे-पीछे आ पहुँचीं और उसके समीप बैठते हुए बोलीं—"मैं समझ रही हूँ तुझे इन दिनों क्या दुःख है। किन्तु इस प्रकार मन दुखी करने से, भोजन का परित्याग कर देने से थोड़े ही..."

"क्या कह रही हैं बुआ जी आप !" चंचल आण्डाल साश्चर्य बोल पड़ी—"ये विचार क्यों जग रहे हैं आपके हृदय में ? इस सम्बन्ध में तो मने कभी स्वप्न में ..." और उसने एक दीर्घ निश्वास लेते हुए बिस्तर पर पड़ी चादर से मुख ढाँप लिया।

बुआ जी उसके समीप कुछ खिसक आयीं और स्नेह से उसके शरीर पर हाथ फेराते बोलीं—"फिर तू छुई-मुई-सी मुरझाई क्यों दीखती है आजकल ? उठ बेटी, अब ज्यादा ज़िद अच्छी नहीं। चल खाना खा ले !

यह सुन आण्डाल चुपचाप उठ बैठी और बुआ जी के साथ भोजन के लिये सीढ़ियों से नीचे उतर गयी।

आण्डाल एक सम्भ्रान्त कुटुम्ब की कन्या थी। उसके पिता व्यापार-कुशल और सम्भ्रान्त व्यक्ति थे। उनके कई कन्याएँ थीं। प्रातः-सायँ सभी समीपवर्ती उद्यान में जा कर पुष्प चयन करतीं, मधुर-मधुर फल खातीं और बाल-सुलभ-क्रीड़ा किया करती थीं।

एक दिन आण्डाल के फूफा हरचरणसिंह जी अपने साले के घर पहुँचे। भाग्यवश उनकी भेंट आण्डाल से हुई। उससे उन्हें कुछ स्नेह हो गया और वह उसको अपने घर ले आये। तब से वह उन्हीं के स्नेह में पल रही है। वह भी माता-पिता के समान अपने बुआ-फूफा की सेवा में रत रहती है।

बाद में ईश्वर ने उनको भी बालक दिया। किन्तु प्रारम्भ से ही अत्यधिक स्नेह एवं लाड़-प्यार में पलने के कारण आण्डाल के प्रति दोनों का प्रेम घटा नहीं।

धीरे-धीरे उसका बचपन बीत गया। समय के साथ उसमें भी परिवर्तन हुआ।

निरंतर स्वप्न-लोक में विचरनेवाली आण्डाल ने हरदौल सिंह पर अपनी दृष्टि जमा ली। अनजाने में ही उसका आकर्षण उनके प्रति जागृत हो उठा था। एक दिन पूर्णिमा की रात्रि में पूर्ण रूप से खिल रही ज्योत्सना को देख उसका मन प्रफुल्लित हो रहा था। मस्त-पवन पुष्पों से छेड़खानी-सी कर रहा था। ऐसे ही समय, अपनी सहेली सुभागा के साथ वह तरंगिणी तीर पर एकान्त स्थान में प्राकृतिक छटा देखने आयी।

ऐसी सुन्दर वेला में उसे हरदौल का स्मरण हो आया।

एकाएक उसके मुख से निकला—"बहिन सुभगे, एक बार इस एकान्त स्थान में, जहाँ चारों ओर शान्ति बिखरी है, कोई बढ़िया कहानी सुनाओ!"

सुभागा उसके अलसाये नेत्रों की चमक को देख कर समझ गई कि आण्डाल अवश्य किसी पर आसक्त हो गई है। अतएव उसने उसके सुकोमल हृदय को चोट पहुँचाना उचित न समझा। उसने उसमें प्रसन्नता लाने का ही प्रयत्न किया।

वह बोली—"बहिन आण्डाल! सुनो एक मूर्ति की बात बताती हूँ। वह मूर्ति साकार रूप है। निष्ठुरता, अनाकर्षकता, कुपात्रता उसमें नाममात्र को भी नहीं है। कटि में उसके कृपाण झूलती है। रत्नों से जगमगाते वस्त्रों को धारण करते हैं वह। गले में पुष्प और रत्नों की मालायें सुशोभित हैं। ठीक है न?

"हाँ ऐसा ही!"

"कब किये तुमने उसके दर्शन?"

"उस दिन...फिर कल...ऐं! क्या पूछा सुभगे तुमने?" वह अपने प्रियतम के दर्शन को विह्वल हो रही थी। उस ध्यानमग्ना को पता तक न रहा कि वह क्या उत्तर दे रही है? भावावेश में वह न जान क्या-क्या कह उठी। एकाएक उसे चेत आया और वह चौंक पड़ी।

तब तक सुभागा ने उसके मन के सारे मोती चुन लिये थे। सुभागा उसे प्रकृतिस्थ जान दूसरी ओर बह गई। प्रसंग बदलते हुए उसने कहा—"कैसा रहा वर्णन उस मूर्ति का ?"

'अच्छा रहा !" उसका ध्यान चारु-चन्द्र की चंचल किरणों पर लगा था। किरणें जल से अठखेलियाँ कर रही थीं। परन्तु आण्डाल से न रहा गया। वह अपने प्रियदेव के सुन्दर वर्णन को सुनने को उतावली हो रही थी। और सहेली चाहती थी उस भेद को पाना।

मार्ग में लौटते समय उसने पुनः वही चर्चा छेड़ी। लाख छिपाने पर भी आण्डाल को अपने प्रेम का रहस्य खोलना ही पड़ा अपनी सहेली पर।

फिर समाज की, जाति-पाँति की, मिलन की और वैवाहिक-वन्धन की चर्चायें छिड़ीं—बाधायें सम्मुख उपस्थित हुईं, फिर मिटीं। अनन्तर आण्डाल का महल भी आ गया। शयन-कक्ष में जाते समय उसने कहा—"बहिन स्मरण रहे, किसी को...!"

"निश्चिन्त रहो सखी ! यह भूल स्वप्न में भी न होगी।"

अध्याय : २३ :

अँगनू रंगनायिका के यहाँ से अपनी बस्ती में दो माह बाद लौटा था।

नट-बंजर बस्ती की सीमा पर पहुँचते ही उसे उन बीते दिनों की स्मृतियाँ, आनन्द की घड़ियाँ, जो उसने सुरजो के साथ बितायीं थीं, सताने लगीं।

उनमें कितनी मादकता भरी थी, आह! उनमें कितना दर्द था! कितना निष्ठुर हो गया वह नगर में जा कर! और फिर क्यों उसने नगर के छिन्न-भिन्न कारुणिक जीवन में रह कर इतने दिन बिता दिये? दूर से ही उसे नट-बंजर बस्ती की शान्त धूमिल झोपड़ियाँ दिखाई दीं। इसी तरह के विचारों में मग्न उसने बंजर-बस्ती में कदम रखे।

बस्ती से दूर आने वाले मार्ग में सर्वप्रथम उसकी ही कुटी पड़ती थी।

वह कुटी के समीप आ गया। देखते ही उसका हृदय भर उठा। कितने दिनों के बाद वह अपनी कुटी में कदम रख रहा था। परन्तु आज यह कुटिया सूनी क्यों है? ऐसा लगा उसे, जैसे यहाँ से जीवन बिल्कुल उठ-सा गया है।

उसका हृदय बिखर कर चूर-चूर हो गया।

उसने देखा कुटिया रिक्त थी। उसमें वह पुरानी सम्हाल-सुधार न थी। उसकी छत, दरवाजे उखड़े-बिखरे पड़े थे। उसके समीप इकट्ठे धूल-कूड़े के ढेर जम रहे थे। कुटिया मानों चीख-चीख कर कह रही थी, "सम्हाल-सुधारवाला तो चिर-समाधि ले चुका। अब कौन करे इसकी देख-भाल?"

वह रिक्त कुटी में शान्त और चुपचाप बैठ गया। फिर उसने दृष्टि फेर कर देखा कुटी में चारों ओर—ऐं ऐसा क्यों? सायँ-सायँ, भायँ-भायँ का साम्राज्य! एक कोने में मिट्टी की हँडिया अवश्य औंधी पड़ी थी।

उसे कुछ देर बैठे-बैठे हो गई, किन्तु बप्पा जी भी न दिखाई दिये। उसे कुछ संदेह हुआ। परन्तु इस विचार से कि कहीं चले गये होंगे, आ ही जायेंगे। वह बैठा रहा फर्श पर, कुटी के द्वार से सट कर।

आकाश मेघाच्छन्न था। बूँदा-बाँदी हो चुकी थी। उसने कुटी के द्वार पर बैठे कुछ देर और बप्पा जी की प्रतीक्षा की। परन्तु अभी तक उनका पता न था।

वह उठा और रमनू की झोपड़ी की ओर चल दिया। उसने सर्वप्रथम उससे ही क्षमा-याचना करने विचार किया। ज्ञानी जी के अमृत-तुल्य प्रवचन को सुन कर उसने वहाँ प्रतिज्ञा की थी कि वह दूसरे ही दिन अपने दुर्व्यवहार की रमनू से क्षमा माँगेगा। परन्तु नगर चले जाने के कारण वह अपना वचन पूरा न कर पाया।

वह अपना काँपते हृदय से रमनू की कुटी पर जा पहुँचा।

रमनू इस समय अपने पशुओं की नाँद में सानी कर रहा था।

अँगनू उसे देखते ही उसके पाँवों पर गिर पड़ा। बड़ी कठिनाई से उसके मुख से शब्द निकले—"भैया; मुझे क्षमा कर दो! एक वार क्षमा कर...!!"

रमनू अनायास यह दृश्य देख कर स्तम्भित रह गया। उसने झटपट अपने सने हाथ झाड़ कर उसे उठाया, पहचाना; और देखते ही गले से चिपट गया। कुछ देर हृदय-मिलन के बाद उसने पूछा—"कब आये अँगनू दादा?"

"अभी ही चला आ रहा हूँ।" उसके नेत्र अश्रुपूर्ण थे। कंठ भरा हुआ—क्षमायाचना के स्वर से।

"ओह! चलो कुटिया में चल कर बैठें।" और रमनू पशुओं की सानी अधूरी ही छोड़ कर उसे अपनी कुटी में ले आया।

अँगनू का हृदय प्रसन्नता से खिल उठा। आज उसे मिल पायी थी पूर्ण शान्ति।

वह अपने स्वच्छ-सादे वस्त्रों को समेटता हुआ कुटी में बिछी खाट पर बैठ गया। कुटी का फर्श स्वच्छ था। सभी आवश्यक वस्तुएँ सम्हली-सुधरी रखी थीं।

"अभी क्षण-भर में आया दादा !" कह कर रमनू बाहर चला गया।

सामने से एक नारी—बड़े-बड़े कीज-भरे नेत्र, कृष्ण पक्ष की रजनी जैसी वर्णवाली, रंग-बिरंगे पेबन्द लगे घाघरे को चमकाती, हाथ-पाँवों में बेड़ियों की तरह पकड़े गिलट के आभूषणों का स्वर बिखराती, अँगनू के सामने आयी।

देखते ही अँगनू ने सादर अभिवादन किया—"राम-राम...ताई !"

"ओह ! अँगनू बेटा ! अभी आये हो क्या ?" वह कहने लगी—"कुछ नहीं हुआ ! बुरा हो इन पंच-प्रधानों का। बेचारी भुलिया का घर भी नष्ट किया। इतना कठोर न्यायं, इतना करुणाजनक दृश्य न देखा न सुना ! मुओं के मुख पर तत्ती राख डाल देती मैं तो, झुलस जाता मुख ! कुछ ख्याल आता है तो आँसू उमाड़ कर रह जाते हैं। सबका काम सँवारने को हर समय उपस्थित रहती थी बेचारी भुलिया। सबको उचित सलाह-सुमरत, सबके साथ उठना-बैठना। बेचारी इसी दुःख में चल बसी। उन दिनों...' मुँगली कहे जा रही थी।

अँगनू सुनते-सुनते खीज-सा उठा। बोला—"क्या लाभ अब इस दुखड़े को रोने से बड़ी ताई ! ईश्वर को जो अच्छा लगा, उसने किया। कहो, सब मजे से तो हैं ?" उसका स्वर नम्र था। आखिर आज कारण क्या है कि जो ताई सीधे मुँह बात तक नहीं करती थी, जिसके बेटे—रमनू के कारण समाज से उसका मान घटा, उसे बहिष्कृत किया गया, जो पंचायती अदालत में झूठ-सच सब कुछ कहने को तैयार हो गई—वह कितनी सहृदयता, मानवोचित ढंग से बात कर रही है इस समय ?

"हाँ बेटा सब कुशल मंगल ही समझो।" उसने उत्तर दिया।

"सो क्यों—समझूँ क्या ? क्या कोई...?"

"हाँ बेटा, बस्ती का 'शेर' भी मिटा दिया गया।

"और...!"

और अँगनू के बप्पाजी नट-वंजर बस्ती में 'शेर' के नाम से विख्यात थे। वे बचपन से ही बड़े वीर एवं हठी प्रकृति के मानव थे। अतएव सभी ने 'शेर' की उपाधि से बढ़ावा दे रखा था।

अँगनू ने ज्योंही 'शेर' का नाम सुना, वह चौंक गया। उसका माथा कुछ ठनका। उसने अपने मन का संदेह मिटाने के लिये प्रश्न किया—

"कौन शेर ?"

"नहीं समझा तू ! कैसे कहूँ ? अभी कुछ दिन हुए तेरे बप्पा जी की छन्नू के खेत के पास किसी ने हत्या कर दी। चपलू उनके शव को दूसरे दिन मुँह-अँधेरे उठा कर लाया। आह ! उस मानव-सिंह का मुख कैसा चमक रहा था ? बुरा हो उस हत्यारे का ! हमें तो...!'

"क्या कहा ताई ! क्या बप्पा जी...?" अँगनू का कंठ रुँध गया। उसके हृदय में एक गहरा धक्का-सा लगा, जैसे किसी ने पत्थर का गोला फेंक कर मार दिया हो। तो क्या वह एकाकी रह गया इस जग में ?

अचानक बप्पा जी का मृत्यु-संवाद सुन कर उसके मुख पर निर्जीवता-सी छा गई। आह ! उसका बना-बनाया स्वर्ग उजड़ गया।

उसने सोचा था—यदि रमनू क्षमा कर देगा तो उसका स्वर्णिम अतीत पुनः लौट आयेगा। वह फिर चाची को मना लेगा। सुरजो उसकी होगी। बुढ़िया और शशि की स्मृति धीरे-धीरे किसी का प्रेम पा कर मिट ही जायगी। रही धन की न्यूनता, वह रंगनायिका के सहयोग से पूर्ण होती रहेगी। यदि इतने पर भी कुछ बाधा उपस्थित होगी तो वह स्पष्ट कह देगा कि उसने सुरजो से प्रेम किया है। वह सुरजो को उतना ही चाहता है—जितना कि सुरजो उसको।

पंच-प्रधान क्या इस बात का निर्णय न देंगे कि जिसे सुरजो चाहती उसके साथ ही प्रणयबंधन स्वीकृत किया जाय। वह लड़े-भिड़ेगा किसी से नहीं, न्याय के लिये झोली फैला कर सब कुछ माँग कर लेगा। परन्तु अब यदि वह उसकी हो भी गई तो 'बहू' कहनेवाला कौन रहेगा ?

उसे लगा—जैसे भुलिया उसके सामने आ खड़ी हुई है और उससे कह रही है, बेटा घबरा नहीं, तेरे बप्पा जी को मैंने अपने पास बुला लिया है। परन्तु वह माँ से कह रहा है, माँ क्या तुम्हें जरा भी सब्र नहीं हुआ जो तुमने बप्पा जी को इतनी जल्दी अपने पास बुला लिया। लेकिन क्यों ?

हम दोनों साथ-साथ आते। बप्पा जी चल दिये...छोड़ कर मुझे अकेला इस दुनिया में।

उसने एक दुःख भरी गहरी साँस ली। और इतने दिनों के बाद पुनः उसके मुख की रक्तिमा पर श्यामलता आ कर घिर गई। फिर उसके अवसाद-पूर्ण नेत्रों से ढुलक पड़े—दो तप्त आँसू !

उसके मुख से निकला—"अच्छा ही हुआ ताई।" उसने संतोष की साँस ली। उसका मस्तिष्क घूमने लगा। वह सब वस्तुओं को निर्जीव निष्प्राण समझ कर उठने को उद्यत हुआ, तब तक रमनू आ गया। बोला—"अरे ! कहाँ चल दिये दादा ? माँ, तुमने दूध नहीं पिलाया दादा को ?"

"अरे ! मरी, इतनी भी तो याद नहीं रहती। पातू ! ओ पातू !! जरा दादा के लिये कटोरा भर दूध तो ले आ ?" मुँगली ने कुटिया में अंदर की ओर मुख फेर कर आवाज लगाई। अँगनू कुछ न बोला। वह अपना मस्तक थामे मुख नीचे किये बैठा रहा।

रमनू के मन में उसे उदास देख कर एक धुकधुकी-सी मची, उठी—और फिर मिट गई।

बोला—"क्या कहूँ दादा, मैं अपनी मूर्खता पर बड़ा लज्जित हूँ। मेरी दुष्टता के कारण तुम्हें इतना दुःख उठाना पड़ा। उस समय पंचायत में जब तुमने क्षमा-याचना भरे शब्द कहे थे, मैं ही चुप हो जाता तो क्या बिगड़ जाता ? न इतना बढ़-चढ़ कर कहता, न बात का फैल कर इतना भीषण रूप बनता।"

"जो ईश्वर को मंजूर था, हुआ। अब यह बताओ चाची के घर का क्या हाल है ?" उसके स्वर में वेदना भरी थी।

"उस बेचारी का घर भी बिगड़ गया।" रमनू ने कहते हुए मुख नीचा कर लिया।

"क्या मतलब ?"

"हाँ बेटा, उसे भी ये दिन देखने बदे थे।" मुँगली ने अपने बेटे की बात को पूरा किया—"हमारे रमनू से परसों ही सम्बन्ध तय हुआ था।

कुछ लेन-देन करके हमने संतोष की साँस ली थी। इस घर में नन्हीं-सी सुघर-अलौनी-सलौनी बहु आती, चार जने..."

अँगनू का हृदय किसी अज्ञात शंका से दबा जा रहा था और मुँगली कहे जा रही थी—"परन्तु जो कुछ प्रारब्ध में लिखा होता है, वह कैसे मिटे? होनी हो कर ही रहती है। उसे यह भी देखना था; और हमारे...!"

"मुँगली ताई साफ-साफ कहो न सब कुछ? मेरी समझ में तुम्हारी ये बातें कुछ नहीं आ रही हैं!"

"वही तो बता रही हूँ सुरजो के विषय में।"

अँगनू तड़प उठा। उसके भग्न-दबे हृदय से स्वर फूटा—"हाँ-हाँ, कहो न सुरजो के बारे में!"

"वह भी चल बसी—पली-पलाई! उसे कल ही जल में प्रवाहित करके आये हैं बस्ती के सब लोग।"

"सुरजो को!" उसे जैसे काठ मार गया। उस के नेत्र फटे के फटे रह गये। उसकी काया में जैसे रुधिर जम गया। अजीब-अजीब से कारुणिक दृश्य उसके मस्तिष्क में आ कर घिर गये। बिगड़ ही तो गया उसका स्वर्ग—सब कुछ उजड़ गया!

उसने पूछा—"जल में क्यों प्रवाहित किया? क्या विष...?"

"हाँ बेटा! परसों रात की बात है, उसने अपनी चारपाई से उठ कर नीचे किसी कार्यवश कदम रखे ही थे कि साँप ने काट खाया।"

"साँप ने!...सुरजो को!" अँगनू को लगा जैसे उसे भी साँप ने डंक मार दिया हो।

"साँप ही ने तो काट लिया उस बेचारी के पाँव की अँगुली में।" वह अँगनू के मुख पर के भावों का गहन अध्ययन कर रही थी। उसकी ओर देखती हुई कहती गई—"बहुतेरी झाड़-फूँक की गई। मंत्र-तंत्र का प्रयोग किया गया, किन्तु कुछ न बन सका। बेचारी चिर-निद्रा में ही सोई रही। सब हार,झक मार कर चले गये। और कल उसने दम तोड़ा। फिर सबने उसे मृत समझ कर बेतवा मइया को अर्पण कर दिया।"

"आह ! यदि मैं कल ही आ जाता, तो उसका अन्तिम दर्शन तो कर पाता।" वह हृदय थाम कर रह गया। उसका स्वप्न-महल टूट-फूट गया—खंडहर मात्र शेष रह गये। कठोर-निष्ठुर नियति ने उसके हँसते जगत को बटोर लिया। वह हाथ मलता ही तो रह गया। सिर धुन कर, मौन रह कर ही तो उसने सब कुछ सहन कर लिया। उसके भरे कंठ से निकला—"चलो, अच्छा ही हुआ !" उदासी की एक निद्रा-सी आयी और उसके नेत्रों से ओझल हो गई, जैसे—उसने कोई दुखद घटना सुनी ही न हो।

कुछ उठते से ढंग में बोला—"अच्छा रमनू भैया, अब मैं चलता हूँ।"

"कहाँ जाओगे अब ?" मुँगली ने अनुरोध किया—"यह भी तो तुम्हारा ही घर है। कल ही नये पंच-प्रधान मीतल कह रहे थे, अँगनू होता तो उसे अपना लेते, वह हमारे ही समाज का एक अंग है। यहीं रहो बेटा ! क्या नगर में कोई धंधा कर लिया है ?"

"हाँ ताई—एक जगह सेवा का कार्य कर लिया है। कल लौट जाऊँगा।"

"तो अपने रमनू को भी लगाओ, यदि कोई काम-धंधा हो।"

"चलते समय साथ ले जाऊँगा।"

मुँगली का हृदय खिल उठा। वह सोचने लगी, अँगनू अब भी हमारा कितना शुभचिन्तक है !

"हाँ दादा, अब थोड़ी देर सो लो। नगर से चल कर आ रहे हो, थकावट होगी।"

अँगनू ने एक बार अपने नेत्र रमनू के नेत्रों में गड़ा दिये, फिर तड़पते हुए आहत-हृदय को ले कर खाट पर पड़ रहा, निर्जीव-सा !

◐

अध्याय : २४ :

अँगनू ने वह रात्रि मुँगली ताई की कुटिया पर बिताई। दूसरे दिन प्रातः ही वह रमनू के साथ चाची की झोपड़ी पर पहुँचा।

सुरजो की आकस्मिक मृत्यु की घटना चाची ने उसे अश्रुपात करते हुए कह सुनाई। वह मन ही मन रो उठा। कितने दिनों बाद आज चाची उससे सहानुभूतिपूर्ण शब्दों में बोली थी।

दिन का प्रथम प्रहर उसने किसी प्रकार मुँगली ताई से बातचीत करने में ही काट दिया। द्वितीय पहर होते-होते वह बंजर-बस्ती से अन्तिम विदा ले मित्र समेत नगर की ओर चल पड़ा। बस्ती से निकल कर अँगनू को बप्पा जी की स्मृति पुनः सताने लगी। सुरजो का स्नेह उसके नेत्रों के सामने रह-रह कर चमकने लगा।

उसने रमनू से प्रश्न किया—"किस मार्ग से चलोगे नगर की ओर ?"

"मैं समझा नहीं दादा आपका आशय !"

"मैं सोचता हूँ कि छन्नू के खेत की ओर से ही निकल लिया जाय, बप्पा जी के मृतक स्थान के दर्शन भी कर लूँगा और फिर समाधि-स्थल की ओर से होते हुये नगर को ओर चले चलेंगे। फिर कभी इधर आना हो अथवा नहीं !"

रमनू का हृदय किसी अज्ञात शंका से दबा किन्तु उसने सम्हलते हुए उत्तर दिया—"मुझे क्या है—चलो, छन्नू के खेत से ही निकल चलेंगे।"

फिर दोनों मार्ग की उस पगडंडी की ओर मुड़ गये जहाँ छन्नू का खेत पड़ता था।

लहलहाते खेतों को देख कर उसने रमनू से पूछा—"क्यों रमनू यहीं कहीं तो मिला था बप्पा जी का शव ?"

"हाँ यहीं।" रमनू ने खेत के पास खड़े होकर हाथ से इशारा किया।

"चपलू जब बप्पा जी के शव को उठा कर बस्ती में ले गया था तो उसने मृतक देह के विषय में कुछ कहा था तुमसे ?"

"मैं समझा नहीं दादा !"

"मेरा आशय यह है कि उसने यह तो अवश्य ही कहा होगा कि अमुक स्थान पर बप्पा जी का शव पड़ा मिला, और. . ."

"हाँ, यह तो उसने कहा था कि खेत से हट कर उन का शव पड़ा था ।" और वह खेत से कुछ दूर आगे बढ़ा ।

एक टेढ़ी-मेढ़ी सर्पाकार सूनी पगडंडी के मुड़ने वाले मार्ग पर आकर वह रुक गया । अँगनू उसके पीछे-पीछे चला ।

स्थान विशेष पर पाँव रखते हुए वह बोला—"यहाँ बता रहा था चपलू ।"

अँगनू का मन एकबारगी सन्न रह गया ! उसने रमनू के नेत्रों में अपने नेत्र डाल कर कुछ देखा, फिर बोला—'इस स्थान पर बताया है चपलू ने ?"

"हाँ यहीं ।" कहते हुए रमनू ने अपना मुख दूसरी ओर फेर लिया ।

"परन्तु यह तुम्हीं कह रहे हो या तुम्हें चपलू ने बताया है ?"

"मुझसे तो चपलू ने कहा था कि इस जगह किसी ने हत्या की है ।"

अँगनू का हृदय रो उठा ।

परन्तु तत्क्षण उसके हृदय में विचार उठे, उसकी शंका दृढ़ होती गई । उसे रमनू के शब्दों पर विश्वास नहीं हुआ । उसकी इच्छा इस रहस्य-पूर्ण मृत्यु की पूरी खोज करने की ओर बलवती होने लगी । और उसने निश्चय किया कि इस रहस्य की खोज करना ही चाहिये । एक वृक्ष के समीप पहुँच कर रुकते हुए बोला—"अरे, यह तो बड़ी भूल हुई !" उसकी मुख-मुद्रा कुछ रहस्यमय-सी हो उठी ।

"क्यों दादा, क्या कुछ भूल आये ?" रमनू ने उसके मुख की ओर देखते हुए पूछा ।

"हाँ, मैं चार मुद्रायें कपड़े में बँधी चाची के घर भूल आया हूँ ! पता नहीं किसके हाथ लग जायें ? मैं बताऊँ, तुम यहीं ठहरो, मैं दौड़ कर अभी लिए आता हूँ !"

चाची के घर का बहाना कर अँगनू जल्दी-जल्दी चपलू की कुटिया पर पहुँच गया। कुटिया के समीप पहुँचते ही उसने आवाज़ दी। अँगनू ने चपलू से बातों ही बातों में पंच-प्रधानों के काले-कच्चे चिट्ठे खुलवा लिये कि कैसे उन्होंने एक दिन अवसर पाकर सुरजो पर अपनी कुत्सित-कामातुर दृष्टि डाली, उससे बलात्कार करना चाहा ? चंचल पवित्र सुरजो ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिये उनके मुख पर धूल उछाली, सब आँखें मलते-मींजते ही रह गये और वह भाग निकली। फिर चाची ने यह सुन कर बस्ती में एक विद्रोह-सा मचा दिया। सब बस्ती पंचों पर थू-थू करने लगी। फलतः पंच-प्रधान अपने पदों से उतार दिये गये। दूसरे ही दिन वे बस्ती छोड़ कर भाग गये। किन्तु सुरजो...उस बेचारी को..."

"ओह ! तभी सब लोग मुझसे बड़ी सहृदयता एवं भद्रता के साथ पेश आये।" कुछ देर शान्त रह कर अँगनू बोला—"किन्तु यह बात मुझसे मुँगली ताई, रमनू और यहाँ तक कि चाची ने भी नहीं कही। अच्छा ही हुआ, वह बेचारी चल बसी !"

"इतना ही नहीं, रमनू के साथ पाणि-ग्रहण करना उसने मना कर दिया था; एक दिन वह स्पष्ट कह बैठी कि, यदि मैं किसी को अपना पति वरण सकती हूँ तो अँगनू को ही।"

"कहा होगा।" अँगनू ने एक लम्बी साँस ली—"जब वह इस संसार में है ही नहीं तो कहने-सुनने और पछताने से क्या लाभ ?"

"उचित ही कहते हो दादा।" चपलू ने उत्तर दिया।

अँगनू हठात् ही पूछ बैठा, "एक बात और है चपलू, बताओगे ?"

"अवश्य बताऊँगा दादा !"

"सच-सच ?"

"अच्छा यह बताओ," अँगनू ने इधर-उधर रहस्यमय दृष्टि से देखा— "तुम जब बप्पा जी का शव उठा कर, बस्ती में लाये तो तुमने रमनू से यह कहा, कि पगडंडी के मोड़ पर उनका शव मिला अथवा उसने तुमसे...?"

"सच कहता हूँ दादा—बिल्कुल सच ! उसी ने एक दिन छन्नू के खेत की ओर से निकलते हुए मुझ से कहा था कि इस स्थान पर हत्या की गई बप्पा जी की।"

"मेरी सौगन्ध खा कर कहते हो चपलू ?"

"यदि इसमें तिलमात्र भी झूठ हो तो काली माई...!"

"रहने दो चपलू, सच ही होगा !" उसे चपलू के शब्दों से सत्यता का आभास हुआ।

अब अँगनू को पूर्ण विश्वास हो गया कि, यदि बप्पा जी का हत्यारा कोई हो सकता है तो रमनू ही। कारण, कोई भी तब तक निश्चित-स्थान नहीं बता सकता, जब तक वह स्वयं ही कुकृत्य न करे।

वह इसी भावावेग में चपलू से बातें करते-करते उठ खड़ा हुआ। उसने अपने कदम मुँगली-ताई की झोपड़ी की ओर बढ़ा दिये।

कुछ ही देर में वह अपनी लाठी कंधे पर रखे हुए क्रोध, नैराश्य एवं प्रतिहिंसा की अग्नि से सुलगता हुआ रमनू के समीप आ पहुँचा।

रमनू खड़ा-खड़ा उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। देखते ही बोला— "मिल गयीं मुद्रायें दादा ?"

"हाँ, वहीं रखी थीं।" अँगनू ने बहाना किया। फिर दोनों उसी मार्ग से नगर की ओर चल दिये।

अध्याय : २५ :

संध्या होते-होते अँगनू ने मित्र समेत नगर में प्रवेश किया ।

दीपक जलने से पूर्व ही वह रंगनायिका की पंथशाला में आ पहुँचे ।

वह सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ अपने पूर्व परिचित मार्ग से छत पर पहुँच गया और सीधे रंगनायिका के कक्ष में पहुँचा । किन्तु उसे देखते ही अँगनू के आश्चर्य की सीमा न रही—रंगनायिका भगवा-वस्त्रों में साधिका का वेष धारण किये कक्ष में थी । उसे इस सत्य पर विश्वास नहीं हुआ । अतएव भ्रम समझ कर उसने अपनी आँखों को खोला-मींचा । परन्तु रंगनायिका ज्यों की त्यों रही ।

हकलाते फिर उसने प्रश्न किया—"देवी जी आप...!" उसका वाक्य पूर्ण होने से पूर्व ही रंगनायिका उसे देख कर बोल पड़ी—"हाँ, मैं ही हूँ अँगनू. .आओ ।"

रमनू इस खेल को खड़ा-खड़ा देख रहा था । उसकी समझ में अँगनू और ंगनायिका का सम्बन्ध कुछ न आया ।

अँगनू ने तत्काल ही अपने मित्र का परिचय रंगनायिका को दिया । उसे यह भी बताया कि अभिन्न मित्र होने के नाते यहाँ किसी धंधे में लगाने के निमित्त वह उसे लाया है । रंगनायिका ने उसको किसी न किसी स्थान पर लगाने का आश्वासन दे दिया ।

तदुपरान्त अँगनू मित्र को अपने शयन-कक्ष में ले गया, और उसे वहीं विश्राम करने का आदेश दे स्वयं रंगनायिका के पास लौट आया । जाते ही उसने देखा—गेरुए वस्त्रों में रंगनायिका की काया कुन्दन की तरह जगमगा रही है । कक्ष उसकी सतत-साधना और अनन्य भगवद्भावना से सुवासित हो रहा है । उसे लगा जैसे रंगनायिका का मन सांसारिक सुखों एवं भोगों से दूर हो चुका है ।

उसके मुख से निकला—"देवी ! दो दिन में ही यह परिवर्तन कैसा ?"

"तुम्हीं ने तो कहा था साधक, ईश्वर का सम्बन्ध सच्चा सम्बन्ध है।"

"किन्तु यह वेश...और इस की...!"

"आवश्यकता थी।" रंगनायिका ने वाक्य की पूर्ति करते हुए उत्तर दिया—"अब करना ही क्या है, सांसारिक-मायामय वेश में आकर। मैंने तो अपने सच्चे जीवन साथी को पहचानने के लिये ही यह वेश धारण किया है।

"अच्छा ही किया तुमने !" अँगनू के मुख से निकला।

और वह अपने कक्ष की ओर चला गया।

उसके हृदय में रंगनायिका के प्रति सच्चा प्रेम था। परन्तु वह यह नहीं सोच पाया था कि इतनी जल्दी एक नारी कुछ से कुछ बन सकती है। पंक में ही तो पंकज खिलते हैं। कुछ भी हो, वह नहीं चाहता था कि रंग-नायिका संन्यासिनी के वेष में कहीं यहाँ से चली जाय।

उसके बाद रंगनायिका का समय एकान्त चिन्तन और भ गवतभजन में बीतने लगा। वह अँगनू से बहुत ही कम बोलती। उसने उसे एक स्थान पर परचून की दुकान खुलवा दी थी; अतएव वह नित्य की भाँति अपने कार्य पर चला जाता। साथ में रमनू का सहयोग भी उसे मिलता। अँगनू को उसका कम बोलना अच्छा नहीं लगता, कभी-कभी उसके हृदय में एक पीड़ा-सी उठती, परन्तु अकारण उसने भी रंगनायिका के बीच में दीवार बनना ठीक न समझा। इस प्रकार दिन पर दिन व्यतीत होने लगे।

एक दिन एकान्त में रंगनायिका को पा कर अँगनू ने कहा—"रंग-नायिके ! एक बात की पीड़ा मेरे हृदय में उठती है और दब कर रह जाती है। पता नहीं क्यों मैं उसके आगे मैं अपने को अपूर्ण पाता हूँ। हूँ। यदि तुम सहायता करने का...वचन...दो...तो...?"

"कहो।"

अँगनू ने नैराश्य एवं प्रतिहिंसा का भाव दबाते हुए कहा—"शत्रु मेरे सम्मुख है और मैं उससे अपना प्रतिशोध लेने के लिये स्वयं को असमर्थ पा रहा हूँ।"

"मैं तुम्हारा अर्थ समझी नहीं अँगनू।" रंगनायिका के स्वर में कुतूहल था—"स्पष्ट समझाने का कष्ट करो।"

"बात यह है, रंगनायिके, जिस साथी-मित्र को मैं अपने साथ लाया हूँ उसने मेरे पिता की हत्या की है।" फिर उसने सारी घटना सुनाते हुए उससे प्रतिशोध लेने का इरादा प्रकट किया।

रंगनायिका बोली—"जो सत्य-वस्तु तुमने मुझे प्रदान की है, जिसने मेरे ज्ञान-चक्षुओं पर पड़ा पर्दा हटा दिया है, उसी के ठीक विपरीत यह आकांक्षा-आचरण...! समझती हूँ कि इस समय तुममें रजोगुणी संस्कार प्रबल हो उठे हैं। किन्तु मन को वश में करने से सब ठीक हो जायेगा। जगन्नियंता स्वयं ही उसको इस पाप का फल देंगे। तुम क्यों व्यर्थ में अपने सिर पर दुगने पाप का बोझा लादते हो? वह तो निमित्त-मात्र था इस कार्य में—और तुम्हारे पिता की मृत्यु इसी प्रकार होनी निश्चित थी। ममत्व के भाव जैसे तुमने मेरे अंदर छुड़ा दिये हैं, स्वयं भी बदले की भावना इस प्रकार त्याग दो।"

रंगनायिका की इस शीतल शान्तिमय वाणी को सुन उससे आगे कुछ कहते न बना। उसका अपना उपदेश उस पर ही चरितार्थ हुआ। वह सोचने लगा, जिस वेश्या ने उसे एक दिन लातों, घूसों और मार का करुण प्रसाद दिया था, आज उसके शब्द कितने निर्मल...कितने निश्छल, सत्य एवं सुन्दर हैं!"

भावावेश में वह कह पड़ा—"फिर क्या करना चाहिये मुझे? तुम्हारी क्या राय है?"

"मेरी राय! मैं तो यही चाहती हूँ की उसे क्षमा ही कर दो। बदले में उसके साथ ऐसा उपकार करो जिससे वह आजीवन तुम्हारा...।"

अँगनू सदा से उसकी बात मानता चला आया था, और इस बार भी बोला—"यही करूँगा रंगनायिके ! मैं. . .ने. . .उसे क्षमा ही किया...!"

:o: :o: :o:

अँगनू इन दिनों रंगनायिका के प्रत्येक कार्य का अधीक्षक था।

एक दिन प्रातः ही उसने अँगनू को दुकान जाने से रोकते हुये कहा—"साधक ! इन दिनों मेरी इच्छा हो रही है कि नगर से दूर नदी किनारे एकान्त में जा बसूँ। अतएव तुम सतारा चले जाओ, वहाँ 'दोहट' नामक व्यक्ति से तुम्हें इस पत्र द्वारा कुछ धन मिलेगा लेकर शीघ्र लौट आना। यदि चाहो तो अपने मित्र को भी साथ ले लो।

यद्यपि उसकी इच्छा सतारा जाने की नहीं थी, परन्तु वह रंगनायिका के कथन को न टाल सका। दूसरे दिन वे दोनों सतारा की ओर चल दिये।

मार्ग के दोनों ओर वृक्षों की पंक्तियाँ चली गई थीं। और हरे-भरे खेत मानो क्षितिज तक फैले हुए थे। अँगनू को लहलहाते खेत देख कर अपने खेतों की याद आने लगी। ऐसे ही खेतों पर तो उसकी प्रिय बहिन शशि उसे मधुर फल और गर्म-गर्म रोटियाँ लाकर खिलाया करती थी। उसे रह-रह कर भाई-बहिन की पवित्र याद आने लगी।

दिन के तीसरे प्रहर के आते-आते उसने सतारा की सीमा पकड़ ली। ज्यों ही उसने सतारा की सीमा पर अपने कदम रखे उसे कुछ व्यक्ति उसी की ओर भाग कर आते दिखाई पड़े।

समीप आने पर उसने एक व्यक्ति से पूछा—"क्यों भाई, कैसे भाग रहे हो !"

"कुछ. . .नहीं,. . .कुछ. . .सैनिक. . .!"

कुछ दम लेते हुए कहा—"नट-बंजरों का एक दल मार्ग से गुजर रहा था। दूसरी ओर से कुछ सैनिक एक नायक के नायकत्व में आ रहे थ। सुनते हैं उनके नायक और नट-प्रधान में कुछ कहा-सुनी हो गई, इस

पर एक संग्राम-सा छिड़ उठा। पहिले तो लाठियाँ चलीं फिर तलवार चलने लगीं। कुछ लोगों को मरते-कटते देख मैं जान बचा कर भाग पड़ा।"

"मैं समझा नहीं, क्या नट-बंजर-दल से तलवारबाजी हो रही है?" अँगनू ने पूछा।

"हाँ भइया।" आगन्तुक ने उत्तर दिया।

"फिर तुम भी तो बंजर-जाति के लगते हो, मुख मोड़ कर क्यों भाग पड़े?"

"भइया की बातें! हमें अपनी जीवन-रक्षा के लाले पड़ रहे हैं और तुम्हें हँसी सूझ रही है।"

"हँसी कहते हो कायर!" अँगनू का अंग-अंग नट-बंजरों का नाम सुनते ही फड़कने लगा। उसके हृदय में अपनी जाति की सहायता करना विशेष महत्त्व रखता था। वह कुछ रोष भरे स्वर में बोला—"वह भी तो अपने साथी हैं। तुम्हें भागते समय मार्ग में कहीं दो चुल्लू पानी भी न मिला जो डूब कर मर जाते। चलो, मैं भी चलता हूँ तुम्हारे साथ। नहीं खा जायेंगे वे लोग। चलो रमनू भइया, हम तुम दोनों चल कर देखें।"

"चलो दादा!" रमनू ने कहा।

वह व्यक्ति वहीं खड़ा-खड़ा सुनता रहा। उसने लौट कर कुछ उत्तर नहीं दिया। उसे अँगनू की बातों पर आश्चर्य हो रहा था।

दूर चल कर अँगनू ने पीछे मुड़ कर देखा—वह आगन्तुक भी उनके पीछे-पीछे आ रहा था।

कुछ भाग कर साथ पकड़ते हुए वह चिल्लाया—"मैं भी चलता हूँ तुम्हारे साथ।

दोनों ने रुक कर उसे साथ लिया और आगे बढ़े—कुछ दूर पर ही सतारा के निकट एक मैदान में दो टोलियाँ लड़ रही थीं। चारों ओर से मारो-मारो, काटो-काटो के स्वर गुँजित हो रहे थे।

अँगनू ने भीषण मार-काट देख कर रमनू की ओर देखा।

"चलो दादा, हम भी बढ़ें?" रमनू ने उसका आशय समझते हुए कहा—"या तो बाजी अपने हाथ रहेगी अथवा.........।

अँगनू सदा से उसकी बात मानता चला आया था, और इस बार भी बोला—"यही करूँगा रंगनायिके ! मैं. . .ने. . .उसे क्षमा ही किया...!"

:o: :o: :o:

अँगनू इन दिनों रंगनायिका के प्रत्येक कार्य का अधीक्षक था।

एक दिन प्रातः ही उसने अँगनू को दुकान जाने से रोकते हुये कहा—"साधक ! इन दिनों मेरी इच्छा हो रही है कि नगर से दूर नदी किनारे एकान्त में जा बसूँ। अतएव तुम सतारा चले जाओ, वहाँ 'दोहट' नामक व्यक्ति से तुन्हें इस पत्र द्वारा कुछ धन मिलेगा लेकर शीघ्र लौट आना। यदि चाहो तो अपने मित्र को भी साथ ले लो।

यद्यपि उसकी इच्छा सतारा जाने की नहीं थी, परन्तु वह रंगनायिका के कथन को न टाल सका। दूसरे दिन वे दोनों सतारा की ओर चल दिये।

मार्ग के दोनों ओर वृक्षों की पंक्तियाँ चली गई थीं। और हरे-भरे खेत मानो क्षितिज तक फैले हुए थे। अँगनू को लहलहाते खेत देख कर अपने खेतों की याद आने लगी। ऐसे ही खेतों पर तो उसकी प्रिय वहिन शशि उसे मधुर फल और गर्म-गर्म रोटियाँ लाकर खिलाया करती थी। उसे रह-रह कर भाई-बहिन की पवित्र याद आने लगी।

दिन के तीसरे प्रहर के आते-आते उसने सतारा की सीमा पकड़ ली। ज्यों ही उसने सतारा की सीमा पर अपने कदम रखे उसे कुछ व्यक्ति उसी की ओर भाग कर आते दिखाई पड़े।

समीप आने पर उसने एक व्यक्ति से पूछा—"क्यों भाई, कैसे भाग रहे हो !"

"कुछ. . .नहीं,. . .कुछ. . .सैनिक. . .!"

कुछ दम लेते हुए कहा—"नट-बंजरों का एक दल मार्ग से गुजर रहा था। दूसरी ओर से कुछ सैनिक एक नायक के नायकत्व में आ रहे थ। सुनते हैं उनके नायक और नट-प्रधान में कुछ कहा-सुनी हो गई, इस

पर एक संग्राम-सा छिड़ उठा। पहिले तो लाठियाँ चलीं फिर तलवार चलने लगीं। कुछ लोगों को मरते-कटते देख मैं जान बचा कर भाग पड़ा।"

"मैं समझा नहीं, क्या नट-बंजर-दल से तलवारबाजी हो रही है?" अँगनू ने पूछा।

"हाँ भइया।" आगन्तुक ने उत्तर दिया।

"फिर तुम भी तो बंजर-जाति के लगते हो, मुख मोड़ कर क्यों भाग पड़े?"

"भइया की बातें! हमें अपनी जीवन-रक्षा के लाले पड़ रहे हैं और तुम्हें हँसी सूझ रही है।"

"हँसी कहते हो कायर!" अँगनू का अंग-अंग नट-बंजरों का नाम सुनते ही फड़कने लगा। उसके हृदय में अपनी जाति की सहायता करना विशेष महत्त्व रखता था। वह कुछ रोष भरे स्वर में बोला—"वह भी तो अपने साथी हैं। तुम्हें भागते समय मार्ग में कहीं दो चुल्लू पानी भी न मिला जो डूब कर मर जाते। चलो, मैं भी चलता हूँ तुम्हारे साथ। नहीं खा जायेंगे वे लोग। चलो रमनू भइया, हम तुम दोनों चल कर देखें।"

"चलो दादा!" रमनू ने कहा।

वह व्यक्ति वहीं खड़ा-खड़ा सुनता रहा। उसने लौट कर कुछ उत्तर नहीं दिया। उसे अँगनू की बातों पर आश्चर्य हो रहा था।

दूर चल कर अँगनू ने पीछे मुड़ कर देखा—वह आगन्तुक भी उनके पीछे-पीछे आ रहा था।

कुछ भाग कर साथ पकड़ते हुए वह चिल्लाया—"मैं भी चलता हूँ तुम्हारे साथ।

दोनों ने रुक कर उसे साथ लिया और आगे बढ़े—कुछ दूर पर ही सतारा के निकट एक मैदान में दो टोलियाँ लड़ रही थीं। चारों ओर से मारो-मारो, काटो-काटो के स्वर गुँजित हो रहे थे।

अँगनू ने भीषण मार-काट देख कर रमनू की ओर देखा।

"चलो दादा, हम भी बढ़ें?" रमनू ने उसका आशय समझते हुए कहा—"या तो बाजी अपने हाथ रहेगी अथवा.........।

"चलो।" कहते ही अँगनू ने दल के समीप पहुँच कर पीछे से एक नट का खड्ग छीन लिया और विरोधी सैनिकों से भिड़ गया।

रमनू ने भी मौका पाकर ऐसा ही किया। कुछ देर तक दोनों अभिन्न मित्र पता नहीं किधर बह गये।

एकाएक हत बंजर दल इधर-उधर बिखरने लगा। कृषकों के खेतों की ओर बिखरे जंगल में एक अजीब-सी भगदड़ मच गई। जिसे देखो भागता ही दृष्टिगोचर होता। धीरे-धीरे सम्पूर्ण दल भाग खड़ा हुआ। रह गये केवल—अँगनू और रमनू। वे दोनों वहीं जमे थे, हिमालय जैसे दृढ़।

यह देख कर विरोधी-दल के नायक ने आदेश दिया—"सैनिकों, विराम दो रण को।"

सभी सैनिक जहाँ के तहाँ खड़े हो गये। एक अश्वारोही दोनों के समीप आकर खड़ा हो गया। कुछ क्षण तक उसने दोनों को ऊपर से नीचे तक देखा।

फिर बोला—"हम बहुत प्रसन्न हैं वीरो तुम्हारी वीरता और युद्ध कौशल पर!"

"होता क्या है तुम्हारे प्रसन्न और अप्रसन्न होने से?" अँगनू ने उत्तर दिया—"जाओ, तुम्हारी देह रुधिर से सन चुकी है, सर्वप्रथम इसका उपचार करो।"

रमनू खड़ा था—अचल-चुप।

सैनिक युवक अँगनू के गर्वपूर्ण शब्दों को सुन कर क्रोधित नहीं हुआ। उसको उसके कठोर-शब्द कुछ भले ही लगे। बोला—"उपचार तो होना ही है, इच्छा होती है तुम दोनों वीरों का परिचय पा लूँ।"

"हमारा परिचय! क्या करोगे इन नगण्य नटों का परिचय पाकर?"

"महाराज जुझारसिंह की सेना में तुम्हें उच्च पद दिलाने का प्रयत्न।"

"तुम न?" अँगनू को हँसी आ गयी—"इसके पूर्व स्वयं तो उच्च पद प्राप्त कर लो।"

अँगनू के बार-बार स्वाभिमान पूर्ण शब्दों को सुन कर सैनिकों ने अपने-अपने खड्ग बाहर खींचे।

अश्वारोही-युवक ने नम्रतापूर्ण शब्दों में कहा—"वीर-बन्धुओं। बात यह है कि मेरे लिये राजा जुझारसिंह ओरछाधीश का यह आदेश प्राप्त है कि विरोधी-दल का कोई भी वीर सैनिक यदि मिल जाय तो उसके साथ उचित व्यवहार करो। इतना ही नहीं, उनका आदेश तो यह है कि उसे पूर्ण राजसम्मान के साथ सभा में उपस्थित किया जाये। अतएव इनका परिचय अत्यावश्यक है। सोचो, उन्हें जा कर क्या उत्तर देंगे?"

अँगनूने विचार लिया कि बिना अपना परिचय दिये इनसे छुटकारा पाना कठिन है। बोला—"मुझे अँगनू कहते हैं। और यह मेरे अभिन्न मित्र रमनू हैं।"

अश्वारोही कुछ सोच में पड़ गया—ये नाम तो उसने कभी किसी के मुख सुने थे! परन्तु अधिक सोचने पर भी उसे याद न आया। अँगनू ने उसका ध्यान भंग किया—"और आपको क्या कहते हैं?"

"मुझे! पुरुष हैं।" अश्वारोही नीचे उतरता हुआ मुस्कराया। बोला—"और...हरदौल सिंह भी कहते हैं।"

"हरदौल सिंह!" अँगनू ठगा-सा रह गया। यह संज्ञा तो ओरछाधीश के अनुज की है! और इन दिनों तो वह सेनानायक हैं नरेश के। ऐसा ही तो बताया था रंगनायिका ने, तो क्या यही हैं वह सेनानायक! ओह! उसने कितनी बड़ी धृष्टता की है।

और इसी भावावेश में वह हरदौलसिंह के चरणों पर गिर पड़ा।

रमनू ने भी उसका अनुकरण किया, कदाचित उसके लिये भी यह प्रथा आवश्यक हो? हरदौलसिंह ने दोनों को उठा कर हृदय से लगाते हुए देखा—दोनों के नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी!

फिर कुछ संयत होकर दोनों ने समवेत स्वर में कहा—"क्षमा कीजिये महाराज...हमारी...!" उनका कंठ भर आया था।

'मेरा हृदय तुम्हारी वीरोचित बातचीत से अत्यन्त प्रसन्न है। तुम दोनों कल ही नरेश के राज-दरबार में पधारने का कष्ट करो। हम तुम्हारे...!"

"महाराज की दया दृष्टि बनी रहे!" अँगनू बीच में ही बोल उठा—"जरूर आऊँगा महाराज।"

अध्याय : २६ :

सतारा के निकट नट-वंजर-दल की भिड़न्त में हरदौल सख्त घायल हुए पर विजयश्री उनके हाथ ही रही। दो दिन तक तो उन्होंने अपने महल में रहकर उपचार कराया। परन्तु शशि एवं रानी कुँवर बाला के अनुरोध आग्रह पर वह राजमहल में ही रहने लगे।

रानी ने बड़े स्नेह एवं सौहार्द्रता से उनका उपचार कराने का भार अपने ऊपर ले लिया। माँ-बेटी दोनों प्राण-पण से उनकी उचित चिकित्सा में जुटी रहतीं। सेवक-सेविकाओं पर विश्वास न करके वह स्वयं ही उनके उपचार के लिये साधन प्रस्तुत करतीं, अपने हाथों से औषधि पिलातीं और बड़े मन से मलहम-पट्टी करती रहतीं। शशि दिन भर उनके समीप बैठ कर बातचीत के द्वारा उनका मन बहलाती। वह तरह-तरह की बातें चपलता, वात्सल्य, स्नेह से भर-भर कर करती रहती। और क्रमशः हरदौल स्वस्थ होने लगे।

:o: :o: :o:

"कौन ?"

"अन्नदाता ! सरिश्तेदार साहब ओरछा से पधारे हैं और महाराज से मिलना चाहते हैं।" पहरेदार ने आ कर नरेश जझारसिंह को सूचना दी।

"सरिश्तेदार. . .हिदायतखाँ !" जुझारसिंह बोले—"आदेश है।"

इस समय नरेश अपने विजित दुर्ग चौंरागढ़ में ही थे। ओरछा का समस्त प्रबन्ध उनके आदेशानुसार दीवान श्यामलाल ही कर रहे थे।

अभी-अभी नरेश जुझारसिंह प्रातः का जलपान कर गढ़ के भीतर एक भव्य कक्ष में स्वर्ण-सिंहासन पर विराजे ही थे। उनकी दृष्टि एक शुभ्र तिमा पर गड़ी थी। प्रतिमा, नारी की साकार प्रतिमूर्ति प्रतीत होती

थी। खाली प्राण डाल देने की उसमें कसर थी—बस बोल ही पड़ती वह! महाराज विचार-क्षेत्र में विचरण करने लगे—कितनी सुन्दर है यह प्रतिमा! किन्तु ऐसा प्रतीत हो रहा है कि यह अपने पति के रूठ जाने पर, विलास की सम्भावना नष्ट हो जाने से, सर्वथा श्रीहीन हो गयी है। कदाचित् यह पल-पल पर अपने प्रिय के आने की प्रतीक्षा में जड़वत् हो गयी है! प्रतिमा की दृष्टि द्वार की ओर मानों बनायी गयी है, अपने प्रियतम की इन्तजार में। वह सोचने लगे—हा! मूर्तिकार तू कितना निष्ठुर है, जो तूने प्रतिमा के नेत्रों में दो तप्त-अश्रु बहा दिये हैं। क्या तेरे आँसू नहीं बहे, जो तूने स्वयं उसमें आँसू अंकित किये। अवश्य बहे होंगे तेरे भी आँसू। परन्तु...! तभी किसी के पदचाप का स्वर उनको सुनाई पड़ा। दृष्टि कक्ष-द्वार की ओर घूम गई—सामने सरिश्ते-दार हिदायत खाँ खड़ा था।

नरेश से दृष्टि मिलते ही उसने एक लम्बी आदाब बजायी। जुझार सिंह ने कुलश क्षेम पूछी—"कहो, ओरछा का क्या समाचार है हिदायत खाँ?"

"सब अमन-चैन है सरकार! कोई फिक्र की बात नहीं। शाही हमले की खबर कत्तई गलत निकली। इसीलिये छोटे-सरकार से इज़ाजत ले कर मैं हुजूर के कदमों में फिर आ हाजिर हुआ हूँ।"

नरेश सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। वह मन ही मन फूल गये। सरिशतेदार ने इधर-उधर कक्ष में रहस्यपूर्ण दृष्टि से सब ओर देखा। एकान्तता तथा निस्तब्धता का शान्ति-साम्राज्य बिखरा हुआ था। बोला—"सरकार, एक खबर जरूर बहुत वैसी है, कैसे कहूँ? अर्ज करने की हिम्मत नहीं...!"

जुझारसिंह के मन में कुछ क्ष ण पूर्व जो हर्ष के भाव जमे थे, वे थम गये। उनका उजला उत्साह मद्धिम पड़ गया। बोले—"कह -कहो क्या कहना चाहते हो?

"बात कुछ ऐसी ही है सरकार!" सरिशतेदार के नेत्र चञ्चलता से इधर-उधर घूमे, फिर स्थिर हो कर झुक गये—"जान की अमान पाऊँ तो अर्ज करूँ सरकार!"

नरेश उत्सुकतापूर्वक बोले—"निर्भय, हो कर कहो हिदायत खाँ जो कुछ भी कहना है, तुम्हारा कोई बाल-बाँका नहीं कर सकेगा। मैं समझ गया, तुम शशि के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहते हो !"

"नहीं सरकार, बात कुछ महलों की बाबत है।" सरिश्तेदार का स्वर धीमा था, शंका से भरा-सा !

जुझारसिंह की जिज्ञासा उबल पड़ी। आतुर-उतावले कंठ से कुछ कठोर शब्दों में बोले—"पहेलियाँ न बुझाओ हिदायत खाँ ! शीघ्र कहो, जो कुछ भी कहना चाहते हो।"

सरिश्तेदार कुछ संकोच में पड़ गया। जैसे उसकी बात मजबूत होती जा रही हो, उसका रंग नरेश पर जमता जा रहा था। फिर वह लटपटी जबान से बोला—"हुजूर, छोटे सरकार और रानी-माता के बीच कुछ दाल... में... काला...है।"

जुझार सिंह को अपने चारों ओर अग्नि की प्रज्वलित लपटें प्रत्यक्ष दीखने लगीं। उन्होंने सिंहनाद किया—"क्या बकते हो हिदायत खाँ ?"

"हुजूर माफी बख्शी जाय। मुझे इसमें कुछ लालच तो दी नहीं है, देखा और सुना सच-सच अर्ज कर दिया।"

"तुम्हारे पास..." जुझारसिंह का कंठ शुष्क पड़ गया। वह थूक निगलते हुए बोले—"इस बात का कोई प्रमाण भी है ?" उनके नेत्रों से अँगारे बरस रहे थे। कड़क कर बोले—"यदि...गलत निकला तो समझो, चीर कर दो टुकड़े कर दिये जायेंगे, तुम्हारे।"

सरिश्तेदार की देह भय से थरथर काँपने लगी। परन्तु था वह पक्का काइयाँ और वाक्पटु। कुछ ही देर में संयत हो कर बोला—"हुजूर का नमक मैं हमेशा से खाता चला आया हूँ। आदत कुछ ऐसी है कि गलत तरीके देख कर मुझ से चुप नहीं रहा जाता। सच्चाई का हमेशा गुलाम रहा हूँ। अगर मुझसे गुस्ताखी हो गई हो तो सरकार खुद ओरछा चल-कर इस बात की छानबीन कर लें।"

जुझारसिंह को उसकी बातों में कुछ सत्यता का अंश प्रतीत हुआ। और वह उसकी चापलूस वृत्ति के शिकार हुए। एक क्षण भी अपने को

स्थिर, संयत रखना उन्हें कठिन हो गया। बड़ी तेजी से अपने तन को झटकते हुए उठ पड़े और आदेश दे डाला—"ठीक है, अभी तेज से तेज घोड़े तैयार कराओ, मैं ओरछा चल कर स्वयं इस रहस्य की छान-बीन करूँगा ?... हिदायतखाँ ! केवल तुम मेरे साथ चलोगे !"

"गुलाम हाज़िर है हुजूर !" हितायत खाँ नरेश के सामने भूमि तक झुक गया।

बात की बात में अश्व तैयार हो गये—सजे-कसे, दृढ़ और सुन्दर। हिदायत खाँ को साथ लेकर ओरछाधीश ओरछा गढ़ की ओर चल पड़े। उनका अश्व इतनी तेजी से भाग रहा था कि उसकी टापों से चिनगारियाँ निकल रही थीं।

इस समय उनका संदेह पुष्ट हो चुका था। वह मन में सोचने लगे—"आह ! आज मुझे ज्ञात हुआ। इसीलिये हरदौल चौरागढ़ न रुका... स्वयं ही ओरछा जाने का आग्रह किया। मुझे क्या पता था कि तू इतना नीच और पापिष्ठ है ! मेरे कई बार कहने पर भी तूने कभी गढ़ महालय में रहना स्वीकृत नहीं किया। इसीलिये कि अपने को पवित्र भी तो सिद्ध करना था।

मेरी अनुपस्थिति में अन्तःपुर से बाहर नहीं निकलता था। मुझे धोखा देने के लिये दिन भर शशि का बहाना बना, कभी गढ़ में जाता और कभी बाहर रहता। और कभी भोजन के समय घंटों अन्तःपुर में ही घुसा रहता था। "इसी प्रकार तो रंग जमाया जाता है ! उफ ! इस पापिष्ठ का यह दुस्साहस ! सब चाल इसकी थी। राज्य को पलटने के लिये केवल सरदारों और प्रजा पर अपने प्रभाव को जमाने में चिंतित रहता था। मुगल सम्राट् से उलझाकर मेरा सर्वनाश करने के लिये ही कमीने ने देवगढ़ पर आक्रमण कराया। सोचा होगा मुझे संग्राम में मरवा कर स्वयं ओरछाधीश बनूँगा; और फिर चैन की बंशी बजेगी—दुष्ट ! मैं तुझे कभी भी अन्तःपुर की शोभा नहीं बनने दूँगा। किन्तु रानी—कितनी दुष्टा निकली, कुलटा, दुराचारिणी ! चल रहा हूँ, देखूँगा पहुँचते ही दोनों... !

सहसा ही जुझारसिंह के अश्व को तेज भागने के कारण ठोकर लगी। उन्होंने उसकी लगाम को अपनी ओर खींचा, किन्तु अश्व न सम्हल पाया और वह गिर पड़ा।

नरेश बाल-बाल बच गये। अश्व के भी अधिक चोट नहीं आई। सम्हल कर फिर सवार हुए और उसकी रास ढीली कर दी, अश्व के गिरने ...नका कितना समय नष्ट हुआ! अश्व पुनः उड़ चला आकाश से बातें करते हुए।

परन्तु सरिश्तेदार तब तक दूर निकल चुका था।

७

अध्याय : २७ :

हरदौल सिंह को भौजी-माँ के स्नेह पूर्वक उपचार से स्वस्थता प्रदान हुई।

अस्तु वह गढ़ महालय को छोड़ कर अपने मह : में आ गये । रानी ने पुनः अनुरोध नहीं किया रुकने के लिये ।

सन्ध्या का समय था । वह कुछ जलपान कर शयन कक्ष की ऊपरी छत पर टहल रहे थे । उनके सम्मुख एक मूर्ति आकर खड़ी हो गई ।

देखते ही वह बोले—"शशि बेटी ! क्यों ? कैसे आई ?"

"कल आपने कहा था भगीरथी में स्नान का पर्व है । क्या प्रातःकाल ही बेतवा में स्नान करने चलेंगे ? बड़ी-माँ भी चलने को इच्छुक हैं ! !"

"भौजी-माँ भी जाना चाहती हैं !"

"जी भाई साहब !"

"कह देना, चलेंगे ।"

शशि प्रणाम कर लौट गई ।

फिर वह छत पर से नीचे उतर आये और कल प्रातः-स्नान के लिये राज कर्मचारियों को आदेश दे दिया ।

:०: क्ष०: :०:

ओरछाधीश के प्रपितामह ने मणिका-घाट का निर्माण वर्षों पूर्व राज्य की ओर से कराया था। केवल राजकुल के सदस्य ही यहाँ स्नान-दान के लिये आते थे ।

घाट से सटा हुआ एग जालीदार भव्य-भवन निर्मित था जो चारों ओर चहार-दीवारी से घिरा था। दीवार के बाहर एक द्वार था, जहाँ से मन्दिर में प्रवेश कर यग-युग से रानियाँ, उपरानियाँ स्नान करती थीं । शेष दूर तक खुला चबूतरा बनाया गया था। इस बार बेतवा में जल कुछ बढ़ा

हुआ था। अतएव राज्य-प्रबंधकर्त्ताओं ने किनारे पर ही स्नान करने का प्रबन्ध किया थ ।

हरदौल सिंह, शशि, भौजी माँ एवं अन्य रानियाँ-उपरानियाँ अनेकों सेविकाओं से घिरी, फूल-सी खिली, मणिका घाट पर उपस्थि हुईं ।

घाट पर आते ही सब की दृष्टि बेतवा के दूर तक बिखरे प्रांगण में स्नानार्थियों के समुदाय की ओर उठ गई। दूर तक नर-नारियों का गोल दीखाई पड़ता था। सामने बेतवा नित्य की भाँति अपने कल कल, छल-छल के स्वर में नर-नारी-समुदाय का स्वागतगान गा रही थी। सहस्रों स्त्री-पुरुष, बालक बड़ी प्रसन्नता से बेतवा में स्नान, स्तुति आदि करने में मग्न थे।

हरदौलसिंह ने रानी-उपरानियों को स्नान करने का आदेश दिया और स्वयं बेतवा के में स्नान निमित्त उतर पड़े।

सेवक-सेविकाओं ने क्षण भर में ही सारा प्रबंध कर दिया और स्नान प्रारम्भ हुआ।

हरदौल सिंह दूधिया-जल में स्नान के हेतु वस्त्र सेवकों को सौंप कर उतरे। यकायक शशि भी उनके समीप आकर खड़ी हो गई। बोली—"भाई जी मैं भी आपके साथ ही स्नान करूँगी।"

उन्होंने कहा—"उतरो।"

और उन्होंने उसकी गोरी-गोरी पतली ऊँगलियों को थाम लिया और बाल-सुलभ क्रीड़ा करते हुए जल में प्रवेश किया।

शशि जल में उछलती हुई बोली—"मुझे छोड़ दीजिये भाई जी, मैं चाहती हूँ स्वतंत्र होकर स्नान करूँ।"

"नहीं-नहीं!" कहते हुए वह मना करते रहे तब तक शशि ने अपनी उँगली छुड़ा ली। वह कुछ दूर बढ़ी। हरदौलसिंह स्वयं स्नान करते हुए शशि की जल-क्रीड़ा देखने लगे। वह कभी उछलती, जल में हाथ छप-छपाती और फिर कंठ तक डुबकी लगा कर लज्जा से अपनी देह को वस्त्रों से छिपाती बाहर तक निकल पड़ती। जल की नन्हीं-नन्हीं बूँदें उसके देह पर छिटकी, अटकी रह जातीं—उन्हें उसकी सुन्दर काया से

स्नेह जो था। उसकी काया कुन्दन की तरह जगमगा रही थी। कुछ देर इसी प्रकार करने के उपरान्त उसने कहा— "भैया जी, तैर कर दिखाऊँ।"

"नहीं नहीं, तुझे तैरना नहीं आता।"

और शशि ने छप-छप कर, जल में हाथ-पाँव मारे। दुधिया जल उसके स्पर्श से छिटक कर रह गया। लहरें आतीं और उसको स्पर्श कर दूर निकल जातीं।

हरदौल ने उसकी प्रशंसा की—"तू तो बड़ी सुन्दर तैराक है। किन्तु आगे मत बढ़ना ?"

हरदौल की इच्छा जल से बाहर निकलने की हुई। बोले—"शशि चलो, बहुत हो चुका स्नान ?"

"कुछ देर और।"

वह कुछ न बोले। शशि स्नान करती रही। लहरों के साथ खिलवाड़ करती रही। हरदौलसिंह ने बाहर आने की इच्छा से नेत्र मूँद कर कुछ क्षण रविदेव की स्तुति की। पूजन समाप्त कर जैसे ही उन्होंने जल से बाहर आकर शशि को पुकारा "बाहर आओ बहुत हो चुका स्नान।" नेत्र जो खोले—उनका जी धक् से हो गया।

उसको वापस आते न देख बोले—"अरे ! शशि कहाँ गई ?"

तत्क्षण उन्होंने दूर तक देखा पर शशि का कहीं पता न था।

वह घबरा उठे और सुधिहीन-से इधर-उधर देखने लगे। फिर उन्होंने बाहर निकल कर रेत के समीप ऊँचे प्रस्तर-पट पर खड़े इस पार से उस पार तक निगाह फेंकी। उन्हें कुछ दूर एक वस्त्र-सा उतराता-डूबता दृष्टिगोचर हुआ।

"वह रही शशि !" जल्दी में उनके होश-हवास ठिकाने नहीं थे। वे पलक मारते ही जल में कूद पड़े। उस अवशेष चिह्न के समीप तैर कर पहुँचे, परन्तु एक फटा-चीर मात्र देख कर वह हताश बाहर निकल आयेऔर हकबका कर उन्होंने शशि के बह जाने की सेवक-सेविकाओं को आदेश के रूप में सूचना दी। जो जैसा खड़ा था, वैसा ही वेतवा के जल में कूद

पड़ा। जल में धड़ाम-धड़ाम के स्वर एक साथ गूँज उठे। स्वयं हर दौल सिंह भी शशि की खोज में जल में विवेकहीन-से तैर गये।

शीघ्र ही अन्तःपुर की रानियों में भी यह अघटित सूचना पहुँच गई।

सभी उपस्थित लोग चकित, घबराये-से बेतवा की ओर नेत्र फाड़-फाड़ कर देखने लगे। बेतवा अब भी कल-कल, छल-छल का मधुर गीत गा रही थी।

कुछ देर तक हरदौल जल में इधर-उधर खोजते रहे, फिर विश्रान्त हो, बाहर आ गये। उनके मुख पर निराशा के भाव स्पष्ट झलक रहे थे। बालु के एक उत्तुंग टीले पर खड़े होकर उन्होंनें पुकारा—"सेवको! जल में जाल डाल दो। बेतवा में इस ओर से उस ओर तक खलबली मचा दो। शशि मिलनी ही चाहिये चाहे...!" उनकी आँखों में जल छलछला आये। उनका कंठ शशि की ममता को याद कर भर आया। कहते हैं, स्नेह के समान कोई बन्धन नहीं और राग के समान कोई अग्नि नहीं। वह मन में विश्वमती देवी से प्रार्थना करने लगे—क्या माँ मेरी इस कठिनाई को सहज दृढ़-मुस्कान में न बदलोगी! यकायक उनको सुनाई पड़ा—"शशि मिल गई।"

"कहाँ है वह!" वह उन्मत्त से दौड़ पड़े। उन्होंने देखा, राज सेवकों के समुदाय में दो पुरुष शशि को लिये उनकी ओर आ रहे थे।

समीप से दोनों का मुख देख कर उनको पूर्व स्मृति ने चौंका दिया। उनके मुख से निकला—"तुम दोनों को उस दिन..."

"हाँ महाराज हम दोनों वही बंजर जाति के अँगनू और रमनू हैं।"

शशि अचेत थी दोनों के हाथों में।

हरदौल ने शशि के उचित उपचार का आदेश दिया।

शीघ्र ही दो जानकार सेवक उसकी चिकित्सा में जुट गये।

फिर अँगनू की ओर उन्मुख होकर उन्होंने कहा—"वीरो! कहाँ प्राप्त किया तुमने शशि को?" उनका मुख चिन्ता से आकुल था। वह शशि को अतिशीघ्र होश में देखने के लिये व्यग्र थे।

"वहाँ, घाट के उस ओर !" अँगनू ने हाथ से संकेत करते हुए उत्तर दिया—"मैं मित्र के साथ स्नान का पर्व मनाने आया था। स्नान करके बाहर निकलने ही वाला था तब तक बहिन शशि जल के अन्दर मेरे पाँवों से आ टकराई। मैंने किसी जलचर को समझ कर अपने पाँव की रक्षा के लिये जल में हाथ डुबाया। परन्तु मुझे कोई बालक-सा लगा। तुरन्त मैंने उसका हाथ पकड़ कर बाहर खींच लिया। कुछ देर तक तो मैं इसे पहचानने का प्रयत्न करता रहा। मैंने बार-बार उसे गौर से देखा। कुछ ही देर में मैं उछल पड़ा। मैंने पहचाना मेरी सहोदर बहिन शशि ही है यह !"

"क्या कह रहे हो अँगनूसिंह तुम ?" हरदौल आश्चर्य से उसका मुख देखने लगे।

"ठीक ही कह रहा हूँ महाराज मैं ! तीन वर्ष पूर्व दस्यु-दल के द्वारा मेरी बहिन शशि का अपहरण हुआ था। मैंने उसकी खोज में तीन वर्षों से...!"

हरदौल को शशि के कहे विगत शब्द स्मरण होने लगे। ठीक ही तो कह रहा है अँगनू सिंह ! बोले—"ओह ! उस दिन मेरी जबान पर शशि के...!" तो तुम्हीं हो अँगनू सिंह !"

"जी महाराज !" अँगनू को अपनी बहिन की अधिक चिन्ता थी। बोला—"यह मेरी बहिन शशि है।"

रमनू अँगनू का मुख आश्चर्य से ताक रहा था। उसके इस प्रकार देखने का आशय यही था कि क्या सचमुच यही शशिया है तुम्हारी बहिन और मेरी चिर प्रेयसी ! उसका आश्चर्य उल्लास में बदल गया। वह मन में कह रहा था, खूब पहचाना दादा ने अपनी बहिन को ! मैं तो इन अनमोल वस्त्रों से लदी शशिया को पहचान भी न सका।

अँगनू ने उसके आशय को समझते हुए उत्तर दिया—"मित्र-बन्धु ! देखते क्या हो, मेरी वर्षों की तपस्या आज पूर्ण हुई। देखो, मैंने अपनी बहिन को खोज निकाला।"

"और मेरी भी दादा !" रमनू ने उसी के शब्दों की पुनरावृत्ति की।

शशि के लिए उचित उपचार जुटाया गया। उसके देह में भरा जल उसे उलट-पलट कर बाहर निकाल दिया गया। कुछ ही देर बाद उसने नेत्र खोल दिये।

हरदौल के मुख से मारे प्रसन्नता के निकला—"शशि, आज तूने मेरे स्नेह को पुनर्जीवित कर दिया है। इसी के उपलक्ष में मैं तेरे अग्रज अँगनू सिह को अपनी सेना में 'वृहदाश्वर' का पद देता हूँ और उसके मित्र को एक सभासद का।"

हरदौल ने दो साधारण व्यक्तियों को कितना उच्च पद दे डाला यह सुनकर सभी राज-कर्मचारी एवं प्रजा वर्ग आश्चर्य से उनका मुख देखने लगे।

फिर उन्होंने उपस्थित जन-समुदाय में भाषण किया—"सज्जनो! आज मैं निहाल हो गया। शशि के पुनर्जन्म के साथ-साथ मैंने दो ऐसे वीर-युवकों को पा लिया है जिनको पाना दुर्लभ ही सा था। मैंने इन दोनों को उनके गुणानुसार पद दिया है, वास्तव में यह उनकी वीरता को देखते हुए कुछ नहीं है। ईश्वर इनको चिरायु बनावें! हाँ, एक बात तो शेष ही रह गई—कल बसंत है, प्रजा को आदेश है कि वह दुगने उत्साह से इस उत्सव का आयोजन करें।"

अँगनू सिह तथा रमनू सिह अपने को धन्य-धन्य समझ कर उनके चरणों पर गिर पड़े।

फिर उमड़े जन-सागर के मध्य से स्वर फूटा—"महाराज हरदौल सिंह की जय!"

"जय! जय!! जय!!!" कुछ देर तक अन्तरिक्ष में गूँजता रहा।

७

अध्याय : २८ :

ओरछा राज्य की सेना ने अँगनसिंह को अपना वृहदाश्वर और प्रजा-मण्डल ने रमनसिंह को सभासद मान लिया।

इस समय दोनों अँगनू और रमनू न रहे। राज्य विधानानुसार इन दोनों को पर्याप्त सम्मान प्राप्त हुआ और भव्य भवन भी। पूर्ण अधिकार भी दिये गये। दोनों स्वतंत्रता के साथ अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए राज्योन्नति में संलग्न हुए। अच्छे दिन आये और दुःख का स्थान सुख ने आकर बना लिया। गढ़महालय के पार्श्व महल में दोनों के रहने की व्यवस्था की गई थी।

इस प्रकार धीरे-धीरे दो महीने बीत गये। एक दिन अँगनसिंह ने शशि से मिल कर कहा—"बहिन! जो व्यक्ति प्रारम्भ में अधार्मिक रहा हो, जिसने अपने कुल की सदा निंदा की हो; जो व्यभिचारी, अत्याचारी और अनियंत्रित हो, पर किसी के प्रसाद-फल से उसे राज-सम्मान का पद प्राप्त हो चुका हो, जबकि वह इस योग्य भी नहीं है, उसके लिये तुमने विधान में किस दंड का अध्ययन किया है?"

अँगनसिंह ऐसा क्यों कह रहे हैं, शशि न समझ सकी। वह अपलक दृष्टि से उनकी ओर देखने लगी।

अँगन सिंह ने पुनः कहा—"शशि बाला! राज-सम्मान में मेरे कंधे कई भार वहन कर रहे हैं। अतएव मुझे भी अध्ययन करना पड़ता है। मैंने तो इस सम्बन्ध में यही सुना है कि अधार्मिक पुरुष सदा धर्महीन ही रहेगा, उसे चाहे कितना ही उच्च पद क्यों न मिल जाय। और वह राक्षस का अंश ही माना जायेगा, यदि उसके...!"

"मैं यह नहीं समझ पा रही हूँ दादा कि आप क्यों इस प्रकार कह रहे हैं।"

"यह विचार कर कि कहीं तुम अधर्म का आचरण करना आरम्भ न कर दो। यद्यपि अभी तक तुम पवित्र-आचरणवाली ही रही हो, मुझे ऐसा दृढ़ विश्वास है।

"परन्तु इस प्रकार का अनुमान करने का कारण क्या हो सकता है ?"

"कारण ! रमनू, जो इन दिनों ओरछा राज्य का विश्वासपात्र सभासद रमनसिंह है । उसकी दिनों-दिन उन्नति कदाचित् मुझे भी न लेकर डूब जाये ।"

"रमनू ! क्या कह रहे हो दादा ?" शशि के आश्चर्य का ठिकाना न रहा । उसके नेत्र आश्चर्य से खुले रह गये—वे यहाँ कैसे आये ? क्या सच में वही रमनसिंह हैं । ओह ! तभी वह मुझे बहुधा घूर-घूर कर देख लेते हैं, परन्तु. . . !"

"हाँ शशि ।"

"फिर तुम इतने दिनों तक यह बात क्यों छिपाये रहे दादा ? ""

"इसलिये कि उसने नट-बंजर बस्ती में हमारे साथ बड़े-बड़े अपकार किये । मैं यह भी खूब जानता था कि तुम उस पर. . . परन्तु मैंने सोचा—यह भेद एक दिन स्वतः ही खुल जायगा । इसी बीच तुम अदृश्य हो गईं ।" इसके बाद उसने अपना दृढ़ संदेह, बप्पा जी की मृत्यु में उसका कहाँ तक हाथ है, आदि बातों का रहस्योद्घाटन किया ।

शशि के नेत्र छलछला आये । उसका हृदय अपनी ममतामयी माँ और पिता को स्मरण कर रो उठा ।

वह हिमालय-सी दृढ़ता दिखा कर बोली—"दादा ! आप निश्चिन्त रहें। उन अतीत के विचारों का त्याग कर दीजिये। मेरे हृदय में उस का प्रेम अब नहीं रहा। मैं कभी उससे विवाह का प्रस्ताव न रखूँगी ।"

अन्तःपुर के उच्च-अनुशासन पूर्ण संसर्ग द्वारा शशि को उसके उच्च संस्कारों का बल और संबल मिला था ।

आज अँगनू के हृदय में शान्ति थी ।

फिर शशि उठ कर चल दी ।

:o: :o: :o:

"परन्तु इस प्रकार का अनुमान करने का कारण क्या हो सकता है ?"

"कारण ! रमनू, जो इन दिनों ओरछा राज्य का विश्वासपात्र सभासद रमनसिंह है। उसकी दिनों-दिन उन्नति कदाचित् मुझे भी न लेकर डूब जाये।"

"रमनू ! क्या कह रहे हो दादा ?" शशि के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसके नेत्र आश्चर्य से खुले रह गये—वे यहाँ कैसे आये ? क्या सच में वही रमनसिंह हैं। ओह ! तभी वह मुझे बहुधा घूर-घूर कर देख लेते हैं, परन्तु... !"

"हाँ शशि।"

"फिर तुम इतने दिनों तक यह बात क्यों छिपाये रहे दादा ? "'

"इसलिये कि उसने नट-बंजर बस्ती में हमारे साथ बड़े-बड़े अपकार किये। मैं यह भी खूब जानता था कि तुम उस पर... परन्तु मैंने सोचा—यह भेद एक दिन स्वतः ही खुल जायगा। इसी बीच तुम अदृश्य हो गईं।'' इसके बाद उसने अपना दृढ़ संदेह, बप्पा जी की मृत्यु में उसका कहाँ तक हाथ है, आदि बातों का रहस्योद्घाटन किया।

शशि के नेत्र छलछला आये। उसका हृदय अपनी ममतामयी माँ और पिता को स्मरण कर रो उठा।

वह हिमालय-सी दृढ़ता दिखा कर बोली—"दादा ! आप निश्चिन्त रहें। उन अतीत के विचारों का त्याग कर दीजिये। मेरे हृदय में उस का प्रेम अब नहीं रहा। मैं कभी उससे विवाह का प्रस्ताव न रखूँगी।"

अन्तःपुर के उच्च-अनुशासन पूर्ण संसर्ग द्वारा शशि को उसके उच्च संस्कारों का बल और संबल मिला था।

आज अँगनू के हृदय में शान्ति थी।

फिर शशि उठ कर चल दी।

:o: :o: :o:

सन्ध्यारानी अपने नेत्रों को बन्द किये बढ़ी आ रही थी। अँगनसिंह ने किसी कार्यवश अपने महल से निकल कर राजदरबार की ओर अपने कदम बढ़ाये। सभामण्डप के समीप पहुँच कर वह चौंक पड़ा—रंगनायिका साधिका के वेश में उसके सम्मुख खड़ी थी।

देखते ही बोली—"साधक! मेरी प्रसन्नता उस दिन दुगनी-तिगुनी हो गई, जब मैंने आपके वृहदाश्वर होने का समाचार सुना। आज मैं तीर्थयात्रा को जा रही हूँ। इच्छा हुई आपके शुभ दर्शन करती चलूँ। अच्छा अब आज्ञा दीजिए, आपके दर्शनों को बड़ी देर से यहाँ खड़ी थी। आप की यह दासी जब तक जीवित रहेगी, आपकी शुभकामना की मनौती सदा करेगी। जिस प्रकार मुझे 'सत्य' के साक्षात् दर्शन करा कर मेरे ज्ञान-चक्षु खोले थे, उसी प्रकार यात्रा के सफल होने का वरदान भी दीजिये।"

अँगनू का हृदय उसको देखते ही द्रवित हो उठा। वह बड़े आर्द्र कंठ से बोला—"ऐसा न कहो रंगनायिके! सचमुच तुम्हारे ही कारण मुझे इतना ऊँचा पद मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।"

"तभी तो आप अपनी दासी को बिल्कुल भूल बैठे।" वह मुस्करा दी।

"इसके लिये मैं अत्यन्त लज्जित हूँ।"

"ये शब्द आपके श्रीमुख को शोभा नहीं देते, साधक!"

"अच्छा छोड़ो इन बातों को। रंगनायिका, चलो गढ़-महालय में चलें। आज मैं सभा में अनुपस्थित ही रहूँगा।" अँगनू ने प्रसंग बदला।

"नहीं साधक! अब इस प्रज्ज्वलित अग्नि की शान्ति बिना तीर्थ-यात्रा को पूर्ण किये नहीं हो सकती। अस्तु निवेदन यही है कि मुझे मेरे मार्ग पर चलने की आज्ञा प्रदान की जाय। ईश्वर आपको सदा सुखी रखे, उन्नत पथ दिखाता रहे।"

अँगन सिंह के नेत्र सजल हो उठे। बोला—यदि तीर्थयात्रा के निमित्त तुम्हारी यही कामना है तब फिर मैं रोकनेवाला कौन होता हूँ ?" उसका कंठ अवरुद्ध था। एक क्षण के लिये उसके नेत्र चमक से उठे।

प्रहरीगण वृहदाश्वर को आश्चर्य से निहारने लगे। उनमें भला इतना कहाँ साहस जो सेना के प्रधान से कुछ पूछें!

रंगनायिका अँगनसिंह के नेत्रों के सामने से ही चली जा रही थी।

अध्याय : २६ :

आज पता नहीं, क्यों हरदौल सिंह को नींद नहीं आ रही थी ।

रात्रि आधे से अधिक बीत चुकी थी। राज्योद्यान के पुष्पों की सुगंधि मलय-पवन में सजीवता भर रही थी। वह शयन कक्ष से निकल कर राज्योद्यान में टहलने लगे। कुछ देर इसी प्रकार टहलते रहे। तभी एक प्रहरी उनके सम्मुख आकर उपस्थित हुआ—"महाराज की जय हो!"

"क्यों? क्या समाचार है?"

"महाराज ओरछाधीश पधारे हैं!" सेवक ने उत्तर दिया।

"महाराज! मेरे अग्रज! चौरागढ़ से!!" हरदौल के नेत्र आश्चर्य से और हर्ष से भर गये।

"हाँ सरकार, कोई आश्चर्य एवं चिन्ता की बात नहीं है। सरिश्तेदार भी उनके साथ थे। उन्हीं का कहना है कल वसन्त-दरबार है, महाराज को उसका स्मरण हो आया, इसी कारण एकाएक चले आये। चौरागढ़ में शान्ति का पूर्ण साम्राज्य है।"

ओरछा का 'वसंत' दूर-दूर तक विख्यात था और इस वर्ष पुनः उनके अग्रज इस पर्व में सम्मिलित हो रहे थे। कल्पनाओं में डूबते-उतराते उनको राज्योद्यान का प्रत्येक पुष्प मुस्कराता-हँसता प्रतीत होने लगा। भीनी-भीनी सुगंधि से उनका मस्तक झूम उठा। वह भूल गये कि प्रहरी अभी तक उनके आदेश की प्रतीक्षा में खड़ा है। ध्यान भंग होते ही बोले—"अरे! तुम अभी तक खड़े ही हो। मैं ओरछा के वसंत-दरबार की चमक-दमक को स्मरण कर भूल ही गया। जा सकते हो!"

प्रहरी अभिवादन कर चला गया। हरदौल शयन-कक्ष की ओर मुड़ गये।

:o: :o: :o:

अर्द्धरात्रि के आते न आते जुझारसिंह ओरछा पहुँच गये। अपने अश्व को गढ़महालय के ड्योढ़ीदार को सौंप कर बिना कोई सूचना दिये सीधे अन्तःपुर में प्रवेश हुए। रानी कुँवरबाला सो रही थीं। एक परिचारिका ने जगा कर राजा के आने की सूचना रानी को दी। वह राजा के अचानक पधारने का समाचार सुन कर घबरा उठीं। नेत्र खुलते ही उन्होंने ओरछाधीश को अपने सम्मुख खड़े पाया।

रानी ने उठ कर उनके चरण स्पर्श किये। फिर पूछा—"चौरागढ़ में तो सब कुशल है, एकाएक प्राणनाथ का पधारना कैसे हुआ?" रानी का प्रश्न साधारण ही था।

"अब मेरा आना भी शायद अखरने लगा है?" जुझारसिंह जैसे सब कुछ कह डालने के लिये अकुला रहे थे। कुछ मुख बना कर बोले—"ईश्वर ने पता नहीं, संग्राम में ही मेरी इतिश्री क्यों न कर दी। कदाचित् उसका फल सुखकर ही रहता।"

रानी का हृदय धक् से हो गया! वज्र का प्रहार भी उसके सामने कुछ न था। उनसे उत्तर देते न बना। अपने को कुछ सँभालती हुई बोलीं—आज ये अशुभ बातें मुख से क्यों निकल रही हैं?"

"इसलिये कि तुम सती सावित्री जो हो।" नरेश ने पूछा—"हरदौल कहाँ है?"

"अपने महल में होंगे।"

"गढ़महालय से कब विदा ली उसने?"

"कल ही तो गये हैं।"

"तुमने जनकदेव का खड्ग हरदौल को दिया था?"

"हाँ, नट-बंजरों का दल गढ़ पर आक्रमण करने आ रहा था। सूचना पाते ही उन्होंने मार्ग में घेर लिया। देवरजी ने अपने पराक्रम द्वारा उस खड्ग के बल पर ओरछा की लाज रख ली। कई घाव लगे उन्हें।"

"अब तो सब घाव अच्छे होंगे?"

"आपके शुभाशीर्वाद से देवरजी स्वस्थ हैं।"

"यही चाहिये।" जुझार सिंह ने एक दीर्घ श्वास खींची—"चलो अच्छा ही हुआ...तुम्हारे मन के घाव भी भर गये !"

"क्या मतलब ?" रानी का मुँह आश्चर्य और आशंका से भर गया। उन्होंने चकित होकर कनखियों से राजा को निहारा।

नरेश के नेत्रों से चिनगारियाँ निकल रही थीं और मुख से विकट हास्य !

रानी ने बड़ी चतुरता से काम लिया। वह धैर्य रखती हुई बोलीं—"मुझे कौन से घाव लगे थे देव ?...जो भर गये !"

जुझारसिंह बात का बतंगड़ नहीं बनाना चाहते थे। वे कड़े स्वर में बोले—"मुझे तुम्हारी सम्पूर्ण प्रेम-लीला का भेद मिल चुका है रानी ! कुमार्ग की ओर जाने से पूर्व यदि कहीं डूब गई होतीं तो..." क्रोध एवं नैराश्य की विभीषिका में जल रहे मुख से अधिक कुछ नहीं निकला।

रानी को ऐसा लगा कि सचमुच किसी ने उन्हें नदी के जल में धक्का दे दिया हो। बड़ी कठिनाई से साहस कर बोलीं—"प्राणनाथ ! किसी दुष्ट, दुरात्मा ने आपके कान भर दिये हैं। मैं ओरछा के यश के समान निर्दोष हूँ।"

"और हरदौल भी गंगाजल की भाँति पवित्र है।" राजाने फिर व्यंग कसा।

"मेरे लिये देवरजी आपके पवित्र शब्दों की भाँति पवित्र हैं। मेरा और उनका परस्पर माता और पुत्र का व्यवहार है।" रानी के कंठ में शब्द अटक गये और नेत्रों से ढुलक पड़े दो पवित्र अश्रुकण। वे दोनों हाथों से मुख ढक कर रोने लगीं।

यह दृश्य देख कर नरेश के अन्तर में एक क्षीण ध्वनि हुई—"कहीं यह सब कुछ असत्य के रंग में तो नहीं रंगा गया है।" उनके नेत्रों के सामने सरिश्तेदार की मूर्ति आ कर कहने लगी—"कुँवर हरदौल और रानी माता के बीच कुछ दाल में काला है...! दाल में काला है...!" एक चक्र आया और

घूमने लगा। फिर निकल गया। उनके त्रुटिपूर्ण विचार बने ही रहे। बोले—"इन दिखावटी नेत्रों के जल से ओरछा के पवित्र अन्तःपुर में लगा कलंक नहीं धुल सकता, रानी! यदि भला चाहती हो तो अपने सतीत्व की परीक्षा दो।"

रानी के पवित्र संस्कारों को बल मिला। वह सिंहनी की भाँति उठ खड़ी हुई और तमक कर बोलीं—"अपना पवित्र नग्न खड्ग निकालिये, सब कलंक धुल जायेगा, अन्यथा मैं स्वयं आत्मघातिनी होकर प्रमाण देती हूँ। इसके बाद शेष रानियों को लेकर ओरछा के महल को सजा लीजियेगा।"

राजा कुछ सहमे। किन्तु यह सोच कर रह गये कि आत्मघात की धमकी से ही तो नारी अपने झूठे सतीत्व की परीक्षा दे डालती है। बोले—"यह तुम्हारे सतीत्व को परीक्षा देने के लिये पर्याप्त नहीं है।"

"तो फिर जो आप उचित समझें आदेश दे डालिये। मैं पालन करने के लिये प्रस्तुत हूँ।"

"हरदौल की सौगन्ध खा कर कहती हो?" राजा ने अनुज को प्रिय समझ कर ही उसकी सौगन्ध दिलाई।

रानी बोली—"वस्तुतः मैं आपके आदेश से विमुख होने की अपेक्षा मरना कहीं उत्तम समझूँगी।"

कुछ कहने से पूर्व जुझारसिंह का मस्तिष्क चकरा गया।

उन्होंने महल की खिड़की से बाहर की ओर मुख किया—बेतवा अपने कल-कल स्वर के साथ बह रही थी। उसमें पड़ रही थीं चन्द्रमा की क्षीण रश्मियाँ। शेष बालू का शुष्क प्रांगण दूर तक बिखरा था—निर्जन! उसी पर नेत्र रोक कर बोले—"तुम हरदौल को भोजन में विषपान....!"

"आह! देवरजी को...विष...! उस पवित्र आत्मा के लिये इतनी कठिन परीक्षा!!"

"हाँ उसी को जो तुम्हें भौजी-माँ कहते नहीं थकता।"

रानी के नेत्रों से आँसुओं की नदी बह निकली। वह पूर्णतः अवश थीं—क्या करतीं ?

उनके मुख से निकला—"आपका आदेश सिर-आँखों पर... स्वामी!"

○

अध्याय : ३० :

प्रात:काल हुआ। रजनी ने अपने भवन के द्वार खोल दिये। अन्धकार भाग चला। खग-कुल अपने-अपने नीड़ों से उड़-उड़ कर पर तौलने लगे। प्रकृति जगी, सब जागे; और जगे हरदौलसिंह भी। उठते ही उनका मन वसंत-पंचमी के पर्व को स्मरण कर पुलकित हो उठा।

प्रात:कालीन नित्य के कार्यों से निवृत्त हो कर उन्होंने आज वसंती बाना धारण किया। कुछ दिन चढ़े वह गढ़महालय आये। उनकी इच्छा अपने अग्रज के दर्शनार्थ बलवती हो उठी। वह नरेश के कक्ष की ओर बढ़े, किन्तु प्रहरियों ने सूचित किया—"नरेश सो रहे हैं।"

उन्होंने सोचा वसंत-दरबार में ही मिल लूँगा और वह लौट पड़े। नीचे आकर अन्त:पुर में गये। देखा, रानी कुँवर बाला खिड़की से टिकी खड़ी थीं। उनकी एकटक दृष्टि बेतवा के उस पार कुछ खोज रही थी। उनके मुख पर मलिनता, चिन्ता के भाव स्पष्ट झलक रहे थे। हरदौल समीप आकर खड़े हो गये, परन्तु उनका ध्यान भंग नहीं हुआ। रानी को उनके आने तक का आभास नहीं हुआ।

यह दशा देख कर हरदौल बोले—"शशि कहाँ है भौजी माँ ?"

"आज वह मुझसे पृथक् सोयी थी। उस कक्ष में होगी रानी मणिका के साथ।" मणिका जुझार सिंह की उपरानी थी। शशि उनसे भी उतना ही स्नेह रखती थी जितना कुँवरबाला से। आज वह उन्हीं के महल में चली गई थी।

"परन्तु आप चिन्तित क्यों हैं ?"

"कुछ नहीं—यों ही !" रानी ने अपने को सम्हालते हुए कहा।

पर रानी ने सम्पूर्ण रात्रि किसी प्रकार खड़े ही खड़े बिता दी थी। अपने को संयत बनाये रखने की उन्होंने दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली थी। बोली—"आप महाराज के दर्शन कर आये ?"

"अभी तो नहीं ! वह शयन कक्ष में हैं, जागते ही दर्शन करूँगा। आज तो वसंतोत्सव है, उनसे नट-बजरों से विजयश्री पाने की कथा कह कर पुरस्कार भी लूँगा। और आपके कर-कमलों से वनी वासंती खीर का पान करूँगा भौजी-माँ ! अब आप भी तैयार हो लीजिये, वरना आपका बालक खीर पान नहीं करेगा।"

"अच्छा !" रानी ने अपने को संयत करते हुए कहा।

वह हरदौल की बातों पर विचार करती हुई रसोई की ओर चल दीं।

:o: :o: :o:

कुछ देर बाद हरदौल भोजनालय में आ गये। आसन विछा दिया गया था। रानी ने परिचारिकाओं के हाथों व्यञ्जनों का स्वर्ण थाल भेजा।

हरदौल ने आश्चर्य-चकित होकर सामने की ओर देखा। और बोले—"आज यह दूसरी बात कैसी भौजी-माँ ! आज तो वसंतोत्सव है। फिर परिचारिकाओं के हाथ भोजन क्यों भेजा ? और मेरी वसंती ...?"

परिचारिकायें थाल रख कर चल दीं।

रानी ने उत्तर दिया—"भोजन करो, खीर मैं स्वयं लाती हूँ।"

"मैं तो पहले खीर खाऊँगा, फिर भोजन !" हरदौल वालकों की तरह ज़िद करने लगे। निमिष मात्र में ही खीर का स्वर्ण-कटोरा लेकर कुँवरवाला हरदौल के सामने आ खड़ी हुई। उनके हाथ काँप रहे थे। परन्तु किसी तरह अपने हाथों को सीधा किये खड़ी रहीं।

रानी ने खीर धीरे-से हरदौल के सामने रख दी। देखते ही वह बोले—"भौजी-माँ कितनी सुन्दर है खीर ! सुगन्धि से ही मेरी क्षुधा व्याकुल हो उठी है। आपके कर-कमलों से बनी अमृततुल्य यह वासंती-खीर... अहा... हा... !" वह अति प्रसन्न हो उठे। उनका विनोद-प्रिय स्वभाव खुल कर रंग दिखाने लगा।

परन्तु रानी का हृदय टूक-टूक हुआ जा रहा था। खीर से भरा कटोरा स्वर्णथाल में उनके सामने ही रखा था।

सहसा रानी के कमल नेत्रों से गरम-गरम आँसू के दो विन्दु गिर पड़े—कटोरे में। हरदौल ने रानी के मुख की ओर निहारा—"यह क्या भौजी-माँ ? आपके नेत्रों में आँसू कैसे ? किसने आपका हृदय दुःखी करने का दुःस्साहस किया ? क्या शाहि से कुछ बात हो गई, या उसके साथ न रहने से आप दुःख का अनुभव कर रही हैं ?"

रानी ने अपने को सम्हालने की बहुतेरी चेष्टा की, परन्तु न कर पायीं। वह बातें बनाते हुए बोलीं—"कुछ नहीं, बहुत दिनों बाद अपने हाथों से भोजन बनाने का प्रयत्न किया है, इसीलिये धुँआ लग गया है आँखों में। उसी के..." और वह उठकर चलने लगीं।

हरदौल ने उन्हें रोकते हुए कहा—"यह बात नहीं भौजी-माँ ! जब तक अपने अवसाद का कारण नहीं बतायेंगी मैं भोजन नहीं करूँगा।"

"इस खीर को न पियो, मैं दूसरा कटोरा लाती हूँ !" रानी का कंठ अवरुद्ध हो गया। अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।

"इसलिये न खाऊँ कि इसमें दो अश्रुविन्दु टपक पड़े हैं ?" और वे आसन से उठ कर भाभी के सामने आ खड़े हो गये।

रानी के प्राण हृदय से निकले जा रहे थे। उनका शरीर शिथिल हो रहा था।

हरदौल उनके चरणों पर गिर गये। बोले—"भौजी-माँ, आपने सदा मुझे पुत्र की दृष्टि से देखा है। माँ का सुखद-स्नेह प्रदान किया है। अपने वरद-हस्त से सदा मेरे कष्टों का निवारण करती रही हैं। बताइये, आपको कौन-सा दुःख आ पड़ा ! शीघ्र बोलिये, मैं कुछ भी नहीं समझ पा रहा हूँ !"

"कुछ नहीं देवरजी ! ईश्वर मेरी परीक्षा पर तुल गया है—अति कठोर परीक्षा...!"

फिर उन्होंने उनके अग्रज के आदेश का रोते-सिसकते उद्‌घाटन कर दिया।

हरदौल का मुख अपूर्व कान्ति से जगमगा उठा। पुनः आकर अपने आसन पर बैठ गये। खीर का कटोरा हाथ में उठा कर बोले—"भौजी-

माँ ! आज के बाद यह अखिल विश्व जान जायेगा कि आप सती सीता के समान निष्कलंक हैं। मैं हर्षित हो कर आपके पवित्र अश्रुकण मिश्रित खीर का पान करता हूँ। किन्तु आपको यह अमिट वचन देना होगा कि फिर कभी आपके नेत्र आँसुओं से न भींगेंगे।"

रानी आँचल से मुख ढाँप कर सिसक उठीं।

हरदौल ने समझाया—"भौजी-माँ साहस से काम लीजिये और एक बार अपने पुत्र के सिर पर हाथ रख दीजिये, ताकि कम से कम वह अन्तिम मातृस्नेह से वंचित तो न रहे।"

रानी ने उनके सिर पर काँपता हुआ हाथ रख दिया।

:o: :o: :o:

सूचक-प्रहरी ने आकर नरेश के शयन कक्ष में सूचना दी—"महाराजा की जय हो ! देवाधिदेव, दीवान साहब महाराज के दर्शनार्थ बाहर इच्छुक हैं।"

दिन काफी चढ़ चुका था। जुझार सिंह के हृदय में भाँति-भाँति के विचार आ-जा रहे थे। कभी उनके नेत्र के सम्मुख हरदौल, कभी रानी और कभी सरिश्तेदार की मूर्तियाँ आकर खड़ी हो जातीं। उन्हें सूझ नहीं पड़ रहा था कि क्या सच है और क्या झूठ ! इसी संकल्प-विकल्प में पड़े-पड़े वह छटपटा रहे थे।

सूचक-प्रहरी के शब्द सुन कर वे व्याकुल हो उठ बैठे। उनके मुख से निकला—"कहाँ हैं दीवान साहब ?"

"सरकार ! वह विशेष सभामण्डप में हैं।" राजा आवश्यक कार्य समझ अति शीघ्र सभामण्डप में जा विराजे।

दीवान ने संदेशा सुनाया—"महाराज ! रात्रि को कुछ माल लेकर भागता हुआ सरिश्तेदार दतिया-वन में वृहदाश्वर श्रेष्ठ श्रीयुत् अंगनसिंह द्वारा पकड़ा गया है।"

सरिश्तेदार का नाम सुन कर नरेश का माथा ठनका। कुछ सम्हल कर उन्होंने प्रश्न किया—"कहाँ है वह पामर ? उपस्थित करो !" और

जुझारसिंह ने देखा सरिशतेदार कुछ सैनिकों के बन्धन से जकड़ा-घिरा उनके सम्मुख खड़ा कर दिया गया। उसका मुख ऊपर नहीं उठ रहा था। मुख पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। उसे साहस न हो सका नरेश से दृष्टि मिलाने का। वह सिकुड़ा-सिमटा करबद्ध खड़ा था।

दीवान ने आगे बतलाया—"देवाधिदेव! श्री अँगनसिंह ने बड़े कौशल से इसको पकड़ा है। इस घटना में उनके प्रिय साथी श्रीरमनसिंह की घोड़े पर से गिर कर मृत्यु हो गई है। इसके सामान में महाराज के कुछ वस्त्राभूषण तथा देवगढ़ संग्राम के कुछ मानचित्र मिले हैं।"

रात की घटना से नरेश के नेत्र लाल तो थे ही, और लाल हो उठे। सरिश्तेदार पर गरज कर बोले—"मेरे वस्त्र और मानचित्र तुम्हें कहाँ से मिले?"

"चौरागढ़ से लाया था हुजूर।" सरिशतेदार भय से काँप रहा था।

"ओरछा से क्यों भागे?"

"आपका डर मुझे भगा कर ले गया सरकार!"

"कैसा डर!"

"सरकार के....!"

कुछ क्षण चुप रह कर नरेश फिर कड़के—'चौरागढ़ में तुमने जो कुछ हरदौल और रानी के विषय में कहा था वह कहाँ तक सच है?"

सरिश्तेदार की काया थर-थर काँपने लगी। वह धड़ाम से नरेश के सिंहासन के समीप गिर गया—"जान बख्शी जाय सरकार! मैंने लालच में आकर एक बड़ा हीरा रौंद डाला।" उसके मुख से निकला।

क्रोध में भर कर राजा सरिश्तेदार को लात से मार कर बोले—"तो क्या यह बात झूठ...!"

प्रहरी को बुला कर पूछा—"हरदौल कहाँ हैं?"

"भोजनालय में हैं महाराज।"

राजा के माथे में किसी ने जैसे हथौड़ा दे मारा। फिर पूछा—"और कौन है वहाँ?"

"रानी माता भी हैं ।" उत्तर मिला ।

"रानी भी हैं. . . !" नरेश उन्मत्त की भाँति वहाँ से उठ कर दौड़े । चलते-चलते उन्होंने सरिश्तेदार पर कड़ी दृष्टि रखने का आदेश दिया ।

सभी सभासद एवं दीवान श्यामलाल नरेश की ओर आश्चर्य से देखते रह गये ।

क्षण भर में वह भोजनालय में पहुँचे । देखा—रानी का हाथ हरदौल के मस्तक पर है और हरदौल के हाथ रानी के चरणों में । राजा द्वार से चीख पड़े—"हरदौल !" अनुज हरदौल ने बुझते नेत्रों से नरेश की ओर देखा—कटोरा उनके समीप खाली पड़ा था । फिर रानी के चरणों से हट कर उन्होंने अपने अग्रज के पाँवों में मस्तक टेक दिया । अन्तिम बार उनके मुख से अस्फुट स्वर फूटा—"भौजी-माँ की जय ! ओरछा का वसंत अमर हो. . . !"

और हरदौल की पवित्र आत्मा सदा के लिए अमर हो गई ।